धर्म शास्त्र का महान् मौलिक ग्रन्थ

जातिलता

हिन्दीटीका बालक्रीडा सहिता

लेखक :
आचार्य मधुसूदन शास्त्री
एक्स डीन, फैकल्टी आफ दि ओरियण्टल लर्निंग
का० हि० वि० वि० वाराणसी

प्रथम सं० — १०००

मुद्रक व प्रकाशक



चन्द्रोदय मिश्र, एम्. ए.
मधुसूदन प्रेस,
भदैनी, वाराणसी।
फोन : ५६३६२

* श्रीः *

"धर्म के ग्रहण करने से जाति बदलती नहीं है"

आज विश्व में जितने धर्म हैं उन सभी धर्मों का उद्‌गम स्थल भारतवर्ष ही है हिन्दुस्थान ही है। भारतवर्षियोने ही हिन्दुस्थानियों ने ही भिन्न २ धर्मों की उद्भावना की है। इन्होंने ही भगवान्‌ की उपासनाके भिन्न २ प्रकारों का संश्रयण किया और अपने अनुयायियों को उन प्रकारों को सिखाया।

विश्व में आस्तिक और नास्तिक ये दो समुदाय हैं इन में जो वेद को एवं ब्रह्म को मानते हैं वे आस्तिक हैं। क्योंकि जो इनको मानते हैं वे पुनर्जन्म और इहलोक तथा परलोक को मानते हैं। आनन्दाद्‌ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दमनु-विशन्ति। आनन्दं ब्रह्मणों विद्वानो न बिभेति कदाचन। जो ब्रह्म को आनन्द स्वरूप जानता है वह कभी भयभीत नहीं होता है। उस आनन्द स्वरूप ब्रह्म से ये भूत पैदा होते हैं आनन्द से पैदा हुए ये जीवित रहते हैं और ये आनन्द में अनुप्रवेश करते हैं अर्थात्‌ लीन हो जाते हैं वेद इस तरह भूतों का पैदा होना और मरना बतलाता है। गीता भी यहीं कहती है कि जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च जो पैदा होता है उसकी मृत्यु ध्रुव है निश्चित है और मरने के बाद फिर पैदा होना भी ध्रुव है। इस तरह पुनर्जन्म सिद्ध है। वह पैदा हुआ प्राणी कर्म करता है। इस कर्मों के भोग के लिए स्थान इहलोक और परलोक है। फलतः वेद को मानने वाले ब्रह्म के द्वारा सृष्टि स्थिति एवं प्रलय को मानते हैं अतः वे आस्तिक हैं।

नास्तिको वेदनिन्दकः। वेद की निन्दा करने वाला वेद को नहीं मानने वाला नास्तिक है अर्थात्‌ पुनर्जन्म एवं परलोक को नहीं मानने वाला नास्तिक है। इन आस्तिकों एवं नास्तिकों के अपने २ भावों के अनुसार भिन्न २ धर्म हैं।

उनमें आस्तिकों का सबसे पहला एवं मुख्य सनातन धर्म है । इसमें भी कितने भेद शैवों के कितने भेद वैष्णवों के कितने भेद तान्त्रिक शाक्त के है । तान्त्रिकों में भी वाममार्गी हैं । इसके बाद ओघडपन्थी, कबीरपन्थी, दादूपन्थी निर्वाणी निरञ्जनी, जूना, उदासीन, ये सब एक २ अलग २ हैं । मिलने पर पञ्चायती अखाड़े होते हैं । ये समुदित हैं । इनके अलावा गिरी पुरी भारती आनन्द आश्रम वन तीर्थ वगैरह दशनामी संन्यासी हैं । इससे पृथक् सिक्ख धर्म हैं । वे सब आस्तिक हैं और भी इसके सिवाय कितने भेद धर्म के हैं । जेरुसलम जिनकी राजधानी है उन यहूदियों के धर्म का आचार्य मूलतः भारतवर्षीय था । उस आचार्य ने अपने अनुयायियों को अग्नि की उपासना सिखाई थी । भारत के ऋषि मुनि गृहस्थाश्रम अग्निहोत्री थे । तदनुसार इनको भी अग्निहोत्री बनाया । इसी तरह परसियन या पारसी भी हैं । ये भी अग्नि के उपासक है इस तरह पहले जो भारत का ही एक प्रान्त था अतः उसके निवासी सनातन धर्म की शाखावाले व्यक्ति थे । आज भले ही काल के विपर्यय से भारत के बाहर हो गये हैं वे अग्नि एवं सूर्य के उपासक जरथुस्त्र के अनुयायी यहूदी भी है उनका भी धर्म है । इसकी शाखा में अग्नि के उपासक परसियन या पारसी भी है । अस्तु श्रीः ।

वेद को नहीं मानने वाले जैन बौद्ध ऐश एवं मुसलिमान्य है । जैनों में भी कई भेद हैं । इनके प्रवर्तक आचार्य जिन तीर्थङ्कर बणी गणी गुणनन्दी इत्यादि बहुत से आचार्य हुए हैं । इससे पृथक् बौद्धधर्म है । इस बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक भगवान् बुद्ध थे । जिन्होंने भारतवर्ष में ही हिन्दुस्थान में ही अवतरण किया था । ये दशावतारों में राम एवं कृष्ण की तरह एक अवतार थे । अतः पण्डितगण संकल्प में 'बुद्धावतारे' बोलते हैं । यह बौद्ध धर्म आज भी भारत के बाहर चीन जापान जावा सुमात्रा तिब्बत भूटान आदि देशों में व्याप्त है । और वहां पनपा भी खूब है । पहले कभी ये चीन आदि देश भारत के अंग थे । प्रान्त थे । काल विपर्यय से अलग हो गये । इन धर्मों के सिवाय ऐश धर्म जिसको ईसाइयों का धर्म कहते हैं । एवं मुसलिमान्यों

का धर्म जिसको आज मुसलिम धर्म कहते हैं। इस धर्मो के प्रवर्त्तक आचार्य भारतीय व्यक्ति थे। ऐश धर्म के प्रवर्त्तक महान् पुरुष ईशामसीह नाम से प्रख्यात है। ये ईशा वास्यमिदं सर्व यत् किञ्च जगत्याँ जगत् इस ईशावास्योपनिषत् के वाक्य को बरवार बोलते रहते थे और इस वाक्य के अनुसार उनकी भावना ईशमयी बन गई थी। जैसे वत्स शब्द का बिगड़ कर वचवा वच्चू इत्यादि रूपान्तर हो गया है उसी तरह ईशावास्यम् का बिगड़कर ईसामसीह रूपान्तर हो गया है। गिरिजा घर में ईश की उपासना होती है। ये गिरिजा और घर शब्द संस्कृता भाषा के प्रसिद्ध शब्द हैं। गिरिजा ईश की शक्ति पार्वती है। और घर घृ सेचने धातु से अच् प्रत्यय करने पर बना स्थान अर्थ का वाचक है। अतः का ईश कीश क्ति का स्थान है। बहुत लोग चर्च भी कहते हैं। यह शब्द चर्च अध्ययने धातु से बना है। यह निर्देश करता है कि ईश का अनुशीलन इसमें होता है। इनके धर्मग्रन्थ का नाम बाईविल है। जो वायुबल शब्द का विगडा हुआ रूपान्तर है। वायु सदा सर्वत्र गतिशील है। गति का अर्थ ज्ञान गमन एवं प्राप्ति अर्थ है। अतः ईश सदा सर्वत्र गत है व्याप्त है। सब जगहों में इसको जान सकते हैं इसका ज्ञान हो सकता है और सर्वत्र एवं सर्वदा इसको प्राप्त कर सकते हैं। ऐसी चर्चा भावना इस धर्म के अनुयायी यहाँ करते हैं। अतः इसे चर्च कहते हैं। ऐश धर्म के प्रबर्त्तक महापुरुष के विरोधियों ने इनका कर्ष किया गले में यन्त्र को बाँधकर कर्षण किया यानि फांसी दी। इस कर्षण का विगड कर रूपान्तर क्रिश्चियन है। उस कर्षण में वे मरे नहीं। अन्त में वे महापुरुष भारत में कश्मीर में आये और वहीं पर मर गये ऐसी विख्याति है। उनकी जीबनी प्रसिद्ध है। यह ऐश धर्म ईसाई धर्म के नाम से प्रख्यात है। आज यह धर्म ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका, कनाडा, रसिया, हालेण्ड, पोलेण्ड, स्काटलेण्ड, स्विटजरलेण्ड आदि आदि देशों में फैला हुआ है यहाँ इन देश में ऐश धर्म ईसाई धर्म एक है किन्तु जातियां ब्रिटेनियन फ्रेञ्च जर्मन अमेरिकन कनाडियन रसियन आदि आदि अनेक हैं अतः धर्म के ग्रहण कर लेने से जाति नहीं बदलती है। क्योंकि ईसाई नाम की जाति नहीं है।

ईसाइ धर्म के प्रवर्त्तक ईसा भारतीय थे। यह ईसा शब्द संस्कृता भाषा ईश शब्द का रूपान्तर है। बोल चाल में श को स बोलते हैं। शुक्ल को शुक्ला, मिश्र को मिश्रा, कृष्ण को कृष्णा जैसे बोलते हैं वैसे ही ईश को ईशा बोलते हैं। अ को आ बोलने का क्रम चल पड़ा है। तथा श को स बोलने का भी क्रम है। जैसे तुलसीदासजी ने सुन्दरकाण्ड की चौपाई ' जाके बल विरिंचि हरि ईसा, पालत सृजत हरत दस सीसा" में में श को स लिखा है। और अ को आ लिखा है।

"शम्भुरीशः पशपतिः" यहाँ अमरकोश में भगवान् शिव का ईश नाम कहा है। अतः ईसा भारतीय थे। ईशत्व ईश का धर्म है। उसे ही ईसाइयत कहते हैं। इस ईसाइयत को मानने वाले ईसाइ हैं। संस्कृत भाषा में दश शीर्ष शब्द हैं वह भी दस सीसा के रूप में बिगड गया है। दश का दस और शीर्ष सीसा कर के लिखा है।

इसी तरह मुसलमान शब्द भी मुसलिमान्य शब्द का रूपान्तर है मुसलिमान्यों का धर्म भी सभी देशों में एक है उसको मानने वालों की जातियां अपनी २ भिन्न २ है। जैसे अरविस्तान में अरबियन, अफगानिस्तान में अफगान, मिश्र में मिश्रियन, ईरान में ईरानी या ईरानियन, ईराक में ईराकी या ईराकियन, काबुल में काबुली गान्धार में गान्धारी भिन्न २ हैं। ये सभी मुसलिमान्य हैं। इनका मुसलिम धर्म एक है। धर्म से इनकी जातियां बदली नहीं है। ये सब प्रान्त कभी भारत के ही थे। धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी गान्धार देश की थी। मिश्र में नील नदी भारत प्रसिद्ध नील गंगा है। पाण्डुराजा की द्वितीय पत्नी माद्री ईराक की थी। व्याकरण शास्त्र के निर्माता पाणिनि काबुल के थे। ईराक ईरान ये नाम ईरा से बने हैं। ईरा नाम विद्युत का है। अक गतौ से अच् प्रत्यय करने पर अक बना है। ईरा की विद्युत की अक है गति है जहां जहां वह ईराक है। अन प्राणने से अच् प्रत्यय करने पर अन बना है। ईरा का अन प्राणन है जहां वह ईरान है। पूर्वी बंगाल तो हिन्दुस्थान ही है। जो अभी अभी भारत से भिन्न प्रान्त बना है। पाकिस्थान भी जो

आज ही बन गया है। पाक नामक एक असुर था सुरों का देवों का विरोधी राक्षस था। उसको इन्द्र ने मार दिया था। अतः इन्द्र को पाकशासन नाम से पुकारते हैं। वह पाक जहां है वह पाकी है। यह अन इनिठनौ के द्वारा मत्वर्थीय इन् प्रत्यय से बना है। उस पाकी का स्थान पाकिस्थान है। इन सब देशों में मुसलिमान्यों का धर्म एक है किन्तु बतला दिया गया है कि धर्म से जातियां नहीं बदलती है। अतः भारत में मुसलमान सब हिन्दू हैं। जैसे और २ देश का धर्म एक है जातियां नहीं बदली हैं वैसे ही ये सब हिन्दू हैं। असल में तो जब ये सब अरबिस्तान वगैरह देश कभी हिन्दूस्थान के ही प्रान्त थे तब उनके निवासी भी सभी हिन्दू ही हैं। धर्म उनका मुसलिम है ठीक है। क्या हर्ज है वह भी तो भारतीय क्षत्रियों का सर्जन किया हुआ है। क्योंकि भारतीय क्षत्रिय ही मुसलिमान्य हैं अतः इनका धर्म भी भारतीय ही है।

अब ये भारतीय क्षत्रिय मुसलिमान्य कब से कहलाये और इनका धर्म कैसे उद्भूत हुआ उसको बतलाते हैं। पहले बतला चुके हैं कि सभी धर्मों का उद्गमस्थल भारतवर्ष है हिन्दूस्थान है। भगवान् कहते हैं यं कण्मये तं तमुग्रं करोमि तं ब्रह्मणं तं सुमेधाम्। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। तस्यैव विवृणाति तनूं स्वाम्। जिसको मैं चाहूं उसको ब्रह्मा विष्णु महेश बना दूं। जिसको यह मैं चाहता हूं वह मेरा लाभ कर लेता है। मैं उससे लभ्य हूं। उसके लिए मैं अपनी तनूका विबरण कर देता हूं अपने को उसके लिए प्रकट कर देता हूं।

इसी इच्छा के अनुसार भगवान् भारत में ही अवतार लिए। और किसी का उत्थान किसी का पतन किया। इसी उत्थान पतन के क्रम में जातियाँ जैसे आई वैसे धर्म भी आया। उसका भी वह उत्थान पतन भगवान् ने किया। भगवान ने देखा कि सनातनी जगत और सनातन धर्म बहुत बढ़ गया बहुत उंचे उठ गया। तो कौरव एवं पाण्डवों को निमित्त बनाया माया के द्वारा क्रीडा करने वाले भगवान ने अद्भुत तरीके से धर्म

के संहार करने और अधर्म के उत्थान करने की ठान ली। उसका संकेत था कि युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। उसने विश्नकर्मा से यज्ञस्थली का निर्माण करवाया। विश्वकर्मा ने अपनी आश्चर्यमयी क्रिया से जल में स्थल बुद्धि और स्थल में जल बुद्धि हो जाय ऐसा निर्माण किया। उस यज्ञ में नाना देश के राजे महराजे सेठ साहुकार आये। दुर्योधन भी आया : उसने स्थल को जल समझकर अपने वस्त्रों को ऊपर उठा लिया और जलमयी भूमि को स्थल समझकर अपने वस्त्रों को नीचे कर दिया तब वह भीग गया। इस तरह करता हुआ आ रहा था उस समय द्रौपदी ने उसको इस अवस्था में देखकर कह दिया कि—"अन्धे कल अन्धा ही पैदा हुआ है।" बस ! दुर्योधन को वह शब्द चुभ गया और उसने बदला देने की भावना ठान ली। जिसका फल हुआ कि दुर्योधन ने पाण्डवों के साथ द्यूत क्रीडा की, जूवा खेला। उसमें छल कपट करके उनको हराया। कुछ शर्तें मनवाई और द्रौपदी को भरी सभा में नङ्गी करना चाहा। पाण्डवों को चौदह वर्ष का वनवास दिया आदि२ बहुत कुकर्म किये कराये। जिसका फल कौरव और पाण्डवों का घमासान युद्ध हुआ। उस युद्ध में पाण्डवों की विजय और कौरवों की पराजय हुई। जिसके फलस्वरूप पराजित हुए शेष कौरवेश यानी मरने से बचे हुए कौरवों क ईश लोगों को विजेताओं के राज्य में रहना पसन्द नहीं हुआ अतः वे भारत छोड़कर भारत के बाहर प्रान्त में चले गये। जो शेख कुरेंश के नाम से प्रख्यात हुए। क्योंकि हर एक दश कोश के अन्तर पर उच्चारण का टोन (ध्वनि) बदल जाता है या बदलता रहता हैं अतः भाषा बदल जाती है। जिससे शेष का शेख हो गया [पढ़े लिखे मैथिल लोग भी मूर्धन्य षकार को खकार बोलते हैं,] तथा कौरवेश का कुरेंश हो गया।

बलदेवजी और कृष्ण दो भाई थे। उनमें बलदेवजी बड़े और कृष्ण छोटे भाई थे। जिन में कौरव बलदेवजी के अनुयायी थे और पाण्डव कृष्ण के अनुयायी थे। इसका कारण था कि बलदेवजी ने भीम एवं दुर्योधन को

गदा युद्ध की शिक्षा दी थी। इन दोनों में भीम में शारीरिक बल था बुद्धि विकसित नहीं थी। बुद्धि के अभाव में गदायुद्ध में निपुणता को प्राप्त नही कर सका। दुर्योधन बुद्धिमान् था अतः उसने बुद्धि पूर्वक गदायुद्ध की शिक्षा को ग्रहण किया। जिसके बदौलत बलदेव जी को दुर्योधन अत्यन्त प्रिय था। भीम को तरफ उनका कोई आकर्षण नहीं था। यह गुरुओं का स्वभाव होता है कि जो उनके दिये हुए ज्ञान को अच्छी तरह ग्रहण करते हैं वे उनके प्रिय होते हैं अत एव विशेष कृपापात्र होते हैं। इसी तरह गुरुओं के कृपाभाजन वे शिष्य भी उनके पूर्णतः अनुयायी होते हैं या हो जाते है। यही स्थिति दुर्योधन की थी। दुर्योधन बलदेव जी का पूर्ण अनुयायी था। गुरु के चिन्हों को धारण करता था वैसे ही वस्त्र पहिनता था। दुर्योधन के पूर्ण अनुयायी होन से उसके वर्ग के शेष कौरवेश भी बलदेवजी के चिन्हों एवं वेश भूषाओं को धारण करने लगे। बलदेवजी का नाम मुसली भी है। जिसके आधार पर बलदेवजी के अनुयायियोंने अपने गुरु के नाम पर मुसलिमान्य नाम पर अपना सम्प्रदाय बनाया। जिससे वे शेष कौरवेश मुसलिमान्य कहलाने लगे। मुसली बलदेवजी हैं मान्य गुरु हैं जिनके वे शिष्य मुसलिमान्य कहे जाने लगे या कहलाये।

इस मुसलिमान्य शब्द का मुसल्लहढम ईमान अर्थ करते हैं यानी मुसल की तरह हट ईमान। यहां मुसली के दीर्घ ईकार को मुसल से अलग करके मान्य के साथ जोड़कर बोलेंगे तो मुसल ईमान ऐसा आकार शब्दों का हो जायगा। अस्तु। उन लोगों का यह अर्थ भी हमारी व्याख्या के ओर पूर्ण अग्रसर है।

बलदेवजी नीले रंग का वस्त्र पहिनते थे। रोहिणी के पुत्र थे। टोपी पहिनते थे और उस टोपी में तारा चन्द्र का अंक चिन्ह धारण करते थे। उनका आयुध मुसल और हल था। इन हेतुओं से उनके नाम नीलाम्बर, रोहिणेय, ताराङ्क, मुसली और हली थे। इन्ही नामों से उनके साथ व्यवहार होता था। जिसके आधार पर उनके अनुयायी शिष्य मुसलिमान्य लोग भी

नीले रंग का वस्त्र अधिक प्रेम से पहिनते हैं। अपने व्रत का अनुपालन दिन भर भूखे रह कर करते हैं। और सायं काल तारों को देखकर भोजन करते है तारों को देखने में रोहिणेय के अनुयायी होने से तारा माने रोहिणी तारा का दर्शन करते है। व्रत के अनुपालन से दोषों का शमन भङ्ग होता है अतः इसको रोजा कहते हैं। रोजा का अर्थ है पापों का भङ्ग करना। क्यों कि रोजा शब्द रुजो भङ्गे धातु से रुजति अपनुदति पापम् इस बिग्रह में रोजः ! बनता है। बहुवचन में रोजाः बनता है। रोजा करते हैं ऐसा कहना तो आधुनिकता का प्रभाव है। जैसे मिश्र को मिश्रा कहते हैं शुक्ल को शुक्ला कहते हैं वैसे रोज को रोजा कहते हैं। अपनी टोपी में तारा चन्द्रका का चिन्ह लगाते हैं। अपने पूजा स्थान के दिवाल में हल का चिन्ह बनवाते है यानी हल के चिह्न का निर्माण करवाते हैं। और पूजा स्थान को मस्जिद कहते हैं। जिसका अर्थ है मस्जि माने मन की शुद्धि और द माने देने वाला स्थान। टु मस्जो शुद्धौ धातु से सर्वधातुभ्यो इन् सूत्र से इन् प्रत्यय होकर हरि शब्द की तरह मस्जि बनता है। अतः मस्जिं मनः शुद्धिं ददातीति मस्जिदं स्थानम्।

इस तरह ये मुसलिमान्य लोग कौरव वंशी क्षत्रिय है। ब्राह्मणों के साथ संसर्ग के नहीं रहने पर शनैः शनैः आचार के लोप होने से ये लोग वृषल हो गये। जैसा कि वायु पुराण में लिखा है।

शनकैश्च क्रियालोपाद् ब्राह्मणानामदर्शनात्।
वृषलत्वं गता लोके इमाः क्षत्रियजातयः। इति
शका गान्धार कम्बोजा यवनारब काबुलाः
द्रविडाश्च कलिङ्गाश्च पुलिनाश्चाप्युशीनराः
केलिसर्पा माहिषका स्तास्तराः क्षत्रियजातयः
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणानामदर्शनात्। इति।

भारतीय क्षत्रिय जैसे अन्तिम अवस्था में तीर्थ यात्रा करते हैं। जिससे अपनी भावना को पवित्र करते हैं पापों की शान्ति से पवित्र होते हैं इसीतरह ये लोग भी हज्ज करने जाते हैं। हद्द उत्सर्ग से हज्ज बनता है द्द को ज्ज हो गया है। उत्सर्ग का अर्थ है पापों का त्याग करना। पापों के त्याग से पवित्र होने की भावना से हज्जकरने जाते हैं। जहां ये लोग जाते है वहां भगवान शिव का लिङ्ग है पिण्ड है। उसको ये माल्यार्पण करते हैं आलिङ्गन करते हैं। चुम्बन करते हैं। हाथ जोड़ते हैं प्रणाम करते हैं।

ये लोग पश्चिम दिशा में हज्ज की दिशा में मुख करके नमाज पढ़ते हैं। नमाज शब्द का अर्थ है नम मामे प्रणाम से अज माने खुद को अपने को आत्म को जानते हैं और प्राप्त करते हैं। अज गतौ से अज बना है। गति अर्थवाले धातुओं का जानना एवं प्राप्त करना अर्थ होता है। संस्कृत भाषा में जिसे आत्मा कहते हैं उसे ये खुद कहते हैं स्व शब्द का पर्याय खुद है। आत्मा है।

जहां सेव्य सेवक भाव होता है वहां उपासना होती है। यहां उपासना शब्द में उप शब्द के तीन अर्थ हैं। पाणिनि के सूत्र उपोधिऽके च में उप शब्द के अधिक एवं हीन अर्थ कहे हैं। अतः अधिक माने श्रेष्ठ सेव्य उपास्य होता है और हीन माने नम्र उपासक सेवक होता है। ये दोनों समीप में बैठते हैं अतः उप शब्द का तीसरा अर्थ है समीप। आसना माने बैठना। इस उपासना में सभी का अधिकार है। भिन्नरुचिर्हि लोकः। रुचिभेद से भगवान् के विभिन्न रूपों में स्त्रीभाव में या पुंभाव में उनमें भी उनकी लीला में चरित्र में जिसमें जिसकी रुचि हो उसी में सर्वश्रेष्ठता की भावना के साथ नम्रता से वह समीप में जाता है बैठता है। यही हेतु है कि भिन्न २ व्यक्तियोंने भिन्न २ देश में भिन्न २ धर्म फैलाये हैं। किन्तु इन धर्मों के ग्रहण से जातियां नहीं बदलती हैं वे जातियां अपनी २ ही रहती हैं। जैसा कि ऊपर में बतलाया जा चुका है।

मुसलिमान्य अल्लाहो अकबर कहते हैं। उसमें अक्का' अल्ला' अम्बा ये पार्वती माता के नाम है अतः अहो अल्ल ! हे मातः ! आप अकबर हैं ज्ञान से श्रेष्ठ है अक शब्द का ज्ञान अर्थ है। वह शब्द का अर्थ श्रेष्ठ है।

उपासना में भक्त का भाव होता है कि हे भगवन् तवैवाहम्, मैं तुम्हारा ही हूं। इसी का वाचक दूसरा शब्द है त्वत्कोऽहम्। इस पर भगवान् कहते हैं ममैव त्वम् तुम मेरे हो इसी का वाचक दूसरा शब्द है मत्कस्त्वम्। यहां एक वचन में मत्कः है। बहुवचन में मत्का: बनता है। इसी का बिगड़कर मक्का हो गया है। जब भगवान् मत्काः मेरे तुम हो कहते हैं तब हम लोग अदीन हो जाते हैं दीन नहीं रहते हैं। अतएव अदीनाः स्याम शरदः शतम् ऐसी प्रार्थना जीवेम शरदः शतम् मंत्र से करते हैं। इसी भाव को बतलाने वाले मक्का मदीना शब्द विकृत रुप में हैं।

जैसे ह्रं का बिगड़कर रहम हो गया है। ह्रीं का रहीम। क्रीं का करीम। क्लाँ का कलमा। इसीलिए कलमा पढ़ते हैं। ये सब बीज मन्त्र हैं। जो भारतीय परम्परा से प्राप्त हैं। कुरान शब्द का अर्थ है शब्द प्रधान। कुर शब्दे से कुर बना है और अन प्राणने से अन बना है। वेद जैसे शब्द प्रधान है आनुपूर्वी प्रधान है वैसे ही यह कुरान भी है।

जैसे मुसलिमान्यों के धर्म के ग्रहण करने से अरबवाले अरबियन अफगान नहीं है अफगानी अरबियन नहीं है ईराकी और ईरानी नही है अपनी अपनी जाति में अपने हैं भले ही वे मुसलिमान्य हो गये।

ऐश धर्म के ग्रहण करने वाले अमेरिकन रसियन नहीं हैं एवं रसियन अमेरिकन नहीं है। कनाडियन नहीं है ब्रिटेनियन नहीं है भले ही वे ईसाई धर्म वाले हो गये हैं। उसी तरह भारत में मुसलिमान्य माने मुसलमान हिन्दू ही हैं भले ही उन्होंने मुसलिमान्य सम्प्रदाय के अनुसार धर्म को ग्रहण कर लिया है। क्योंकि धर्म के ग्रहण करने से जाति नहीं बदलती है यह कह चुके हैं।

यह खुद शब्द खुर्द क्रीडायां धातु से बना है। जैसे मेघ के पर्याय वार्दलशब्द के रेफ का लोप पृषोदरादित्वात् हो गया है और बादल बन गया है वैसे ही खुर्द शब्द के रैफ का लोप होने से खुद बन गया है। अतः खुद शब्द का संस्कृता भाषा में क्रीडा अर्थ है। यह क्रीडा आनन्ददायिनी है। ब्रह्म आनन्ददायी है। जो आनन्दस्वरूप होता है वहीं आनन्द देता है। इस तरह वे सब शब्द सब धर्म सब भाव एवं सब व्यक्ति भारतीय हैं

हिन्दुस्थानी हैं इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है इसलिए मुसलिमान्यों का चन्द्र तारा एवं ईसाइयों का पाश चिन्ह है जो भगवती आदि शक्ति के भूषण हैं। हजरत मोहमद साहब जिसको मुहम्मद कहते हैं बोलते हैं वे जेरुसलम के यहूदी थे हिन्दू थे। ये हिन्दू हैं ये हिन्दू हैं ऐसा जिसको बोलते थे वहीं बिगड़कर यहूदी हो गया है। ये लोग अग्नि के और सूर्य के उपासक हैं इनका चिन्ह अंकुश है। यह पहले बतलाया जा चुका है कि ये लोग भारतीय हैं। इन मुहम्मद साहब को भगवान् की प्रेरणा हुई वे आठ महीने तक गुफा में विना अन्न के खाये विना जल के पीये भगवान् की भावना में लगे रहे। उठने के बाद मुसलिमान्यों के आचरण के अनुसार धर्म को फैलाया।

इस ऊपरि किये गये वर्णन से सिद्ध है कि भगवान् ने द्रौपदी को निमित्त बनाकर मुसलिमान्यों को और उनके धर्म को जन्म दिया। और कन्नौज के राजा जयचन्द की लड़की संयोगिता को निमित्त बनाकर मुसलिमान्यों को भारत में बुलाया उनके द्वारा अपने स्वरूप का मूर्तियों का खण्डन करवाया तथा अपने स्थान मन्दिरों को तोड़वाया और आज इस वर्तमान समय में कांग्रेस को निमित्त बनाकर इन मुसलिमान्यों को बसा रहा है पनपा रहा है। क्या किया जाय क्या कहा जाय। बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा। इन तीन स्त्रियों के द्वारा यह हुआ और हो रहा है।

यूनान मिस्र औ। रोमा सब मिट गये जहां से
अब तक मगर है बाकी नामों निशाँ हमारा।

हिन्दुस्तां हमारा। भगवान् ही इसको बचायेगा।

शास्त्रों में कहा है कि भगवान् का कल्कि अवतार होने वाला है वह इन सब दुष्टों का नाश करेगा। वहीं यहाँ विश्व में शासन करेगा। राजा बनेगा। उसके राजा हो जाने पर सनातम धर्म सुरक्षित हो जायेगा। क्योंकि—

सर्वे राजाश्रिता धर्माः। राजा धर्मस्य धारकः। सब धर्म राजा के आश्रित होते हैं। राजा ही धर्म का धारक होता रक्षक होता है। देखा गया है कि—

नश्येत्त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्।

राजा के अभाव में वेद त्रयी नष्ट हो जाती है। अतः कहते हैं कि—

सर्वे धर्मा राजधर्मे प्रविष्टाः।

सभी धर्म राजा के धर्म में समाये रहते हैं।

कुरान पुस्तक खुद की ओर से यानी आत्मा परमात्मा की ओर से उतरी है। ऐसी प्रसिद्धि है। उसका मतलब है कि जैसे वेद अपौरूषेय है यानी किसी का बनाया हुआ नहीं है वैसे ही कुरान भी अपौरुषेय किसी का बनाया हुआ नहीं है। ऐसा भाव प्रदर्शित किया गया है। यह भारतीय परम्परा है आदर्श है। अतएव कुरान के सभी अंशो में भारतीय उपनिषदों के भाव मिलते हैं। क्योंकि खुद से आत्मा से दूसरा तत्व नहीं है। वही एक तत्व है ऐसा अद्वैतवाद का उपदेश जो कुरान में है वह उपनिषदों से प्राप्त किया है। और एकेश्वरवाद का सम्बन्ध भी उपनिषदों से ही है। अतः ये दोनों ही सिद्धान्त उपनिषदों से लिए हैं। इससे सिद्ध है कि हजरत मोहम्मद साहब भारतीय भावनाओं से विभोर भारतीय ही थे। किन्तु कौरवों के वंश के थे अतः पांडवों के विरोधी होने के नाते विरोधी भावना से सब कुछ विपरीत किया।

हजरत मोहम्मद साहब ने कुरान में बतलाया है कि मुझे भारत की ओर से ईश्वरीय सुगंध आती है। इससे सिद्ध है कि वे मुसलिमान्य है और उनका धर्म सब भारतीय है।

हजरत शब्द का अर्थ यहीं बतलाता है कि वे हज में दोषों के उत्सर्ग में त्याग में रत थे तत्पर थे। इसीलिए उनको साहब कहते हैं। आहब के लड़ाई के सहित जो रहते हैं वे साहब होते हैं। अपने आचरणों द्वारा अपने व्यवहारों के द्वारा औरों से जो उत्कृष्ट होते हैं वे उत्कर्ष के लिए आहब करते रहते हैं क्योंकि प्रसिद्ध हैं—उत्कर्षमधिकं प्राप्तुं वाणी बाणो बभूव ह। अर्थात् वाणी अधिक उत्कर्ष को प्राप्त करने के लिए स्त्रीभाव को छोड़कर पुंभाव को प्राप्त हो गई। अथवा उन्होने उत्कर्ष को प्राप्त करने के लिए आहब किया है अतः वे साहब कहने और कहाने के योग्य है। हजरत मोहमद ने भी उत्कर्ष के लिए आहब किया है अतः उन्हें साहब कहते हैं या वे साहब कहे जाते हैं।

हरिः ओम् तत् सत्

कुरान शरीफ में लिखा है कि खुदने आत्मा ने कहा "कुन" है। यह कोऽसि कस्यासि को नामासि। यजु ७।२९ का अनुवाद है।

खुदने आत्माने कहा "बन जा" वस फिर क्या था। आन की आन में कायनात (सृष्टि) बनगई।

यह "भूरिति व्याहरत् भुवमसृजत्" ईश्वरने भू माने भूमि ऐसा कहा भूमि पृथ्वी बनगई इत्यादि उपनिषद् का अनुवाद है।

आरम्भ में ईश्वरने आकाश और पृथ्वीको रचा। तौरेत पर्व १ आ० १—२।

यह "तस्माद्वा एतस्मादाकाशः सम्भूतः" इत्यादि श्रुतिका अनुवाद है।

कुरान मं २ सि० ८ आ० १३।

कुरान मं ३ सि० ११ आ० ३।

कुरान मं ३ सि० १३ आ० ३। में जो कुछ लिखा है वह सब अक्षरशः उपनिषदों का अनुवाद है।

खुद ने आत्मा ने कहा हे पृथ्वि ! आपना पानी निगलजा। ए आसमान वस कर। पानी सूख गया। कुरान मं ३ सि० ११ आ० ४३ इसका आशय है कि भगवान् ने मधु और कैटभ को मारा। उनकी मेद से माने चर्वी से जलमय प्रदेश पर लेप कर दिया मेदिनी बनगई। जिससे आवास के योग्य स्थल बन गया। कुरान मं ३ सि० १३ आ० २१।

ईश्वर ने कहा उजियाला होवे तब उजियाला हो गया तौरेत प०१।आ. ३

यह "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" तमेव भान्तमनुभान्ति सर्वं इत्यादि उपनिषदों का सारांश है।

अतः कुरान लेखक भारतीय कौरवों का वंशधर मुसलिमान्य क्षत्रिय रहा यह सिद्धान्त है।

महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में और महाभारत के युद्ध में सभी देशों के राजा जैसे चीन का राजा भगदत्त, अमरिका का राजा बभ्रुवाहन, यूरोपका विडालाक्ष, यूनान का यवन- ईरान का शल्य, और काकेशस पहाड़

के पास केकय का कैकेय आदि आये थे। महाभारत युद्ध पर्व में इन सब का निर्देश किया है। यह शल्य पाण्डु की द्वितीय पत्नी माद्री का भाई था। माद्री ईरान की थी। गान्धारी धृतराष्ट्र की स्त्री गान्धार देश की थी जिसको कान्धार कहते हैं और आज काबुल कहते हैं। यहां का राजा दुर्योधन का मामा शकुनि था। पाणिनि व्याकरण प्रणेता वहीं के थे'। इससे सिद्ध है कि सब देश भारत के प्रान्त थे और उन के राजा भारत के सम्राट्के अधीन थे। अतः मुसलमान कोई अलग जाति नही है हिन्दू ही है। मुसलिमान्य धर्म के ग्रहण करने से जाति नहीं बदलती है। शेख लोग अफगान हैं। कुरेश अरब में है।

"जातिलता" ग्रन्थ समाप्त हुआ। हरिः ओम् तत् सत्।

भूमिका

श्रीगोपालो विजयते

भूमा जिस के निमिष में ब्रम्हा होत विलीन,
मुख भुज ऊरु चरण से जा के वर्ण सुचीन।
ताको मस्तक नाय कर वर्णों जाती वेल,
श्रीगुरु पदकी सैनसें करों यहाँ मैं खेल ॥

निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुत्तिम्
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राम्हणं विदुः
नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः।

ऐसे यथार्थ लक्षण वाले योगीराजों की तरह से रहने वाले श्री रामजीलालजी शास्त्रीजी महाराज श्री पूज्य पिताजी का चरण कमल सेवक मैं मधुसूदनशास्त्री निज निर्मित जातिलता को सरल भाषा पुष्पों से पुष्पित करता हूँ। इस पुस्तक को वनाने का कारण यह है कि संवत् १९५९ में लच्छीराम ककराणियां एक दिन रायबहादुर सेठ सूर्यमलजी शिवप्रसाद झुन्झुनवाला द्वारा स्थापित संस्कृत पाठशाला में आये थे। इधर उधर सभी छात्रगण वहां बैठे थे। उस वक्त सेठ लच्छीरामजी ने कहा कि महाराज गुरुजी मेरा संदेह दूर करें। अभी थोड़े दिन हुए पं० श्रीशिवकुमारजी शास्त्री काशी से कलकत्ता पधारे थे उनसे हमारे भाई साहब दुली-चंदजी ने पूछा कि महाराज हमलोग वैश्य वेदाधिकारी हैं या नहीं। इस

पर पं० शिवकुमारजी ने कहा तुम इसका उत्तर सुनकर रिस जावोगे अतः रहने दो। तब हमारे भाई साहब ने कहा जो शास्त्र सम्मत वाक्य होवे उसे कहिए हमको कोई तकलीफ नहीं होगी। तब पंडितजीने कहा कलियुगमें क्षत्रिय एवं वैश्य बर्ण नहीं होते हैं। अतः तुमलोग दासी पुत्र हो तुमको वेद के अध्ययन का अधिकार नहीं है। महाराजजी यह क्या बात है? इस पर पूज्यपिताजी महाराज बोले भाई सेठ लच्छीरामजी आज शिवकुमारजी के समान भारतवर्ष में पंडित नहीं है परन्तु मनुष्य की प्रज्ञा पक्षवातिनी होतो है जिसका पक्षपात कर लेती है फिर उस प्रज्ञामें जो भी कुछ फुरता है वह सब जिसका पक्षपात रखती है उसके सामिल हो जाता है जैसे किसी मतका कोई पंडित है वह कैसा ही क्यों न विद्वान् हो अपने मत से अधिक किसी को कुछ समझता नहीं है यही बात यहाँ है। दाक्षिणात्य लोगों ने जो पुस्तकें बनाई है उनमें ऐसे वचन उद्धृत किये हैं जिनसे पंडितजी की बात सावित होती है परन्तु यह वचन सब निर्मूल हैं। अतः इन वचनों के आश्रित पंडित जी की बात भी निर्मूल है अब यहां थोड़ा सा वैदिक विषय जो वर्णोत्पत्ति के विषय में वेद में लिखा है उसे सुना देता हूँ। वेदमें ऐसा लिखा है। प्रजापतिके शरीरमें एक पदार्थसे आत्माने ब्राह्मणको रचा है वह पदार्थ ब्रह्मा है। उसका देवता अग्नि है। ब्रह्म से अग्नि और ब्राह्मण दोनों पैदा किये हैं, फिर देवता द्रव्य का प्रजापति के शरीर में संबन्ध होने से क्षत्र पदार्थ बना है जिसके देवता इन्द्र वरुण सोम रुद्र पर्जन्य यम मृत्यु ईशान रचे। यह देवता और क्षत्र पदार्थ के सम्बन्ध से प्रजापति के

शरीर में क्षत्रिय जाति उत्पन्न होती है। इनके अनन्तर प्रजापति के शरीर में व्याकर्त्ता आत्मा ने विश् पदार्थ रचा उसके देवता वसु ८ रुद्र ११ आदित्य १२ विश्वेदेवा १३ मरुत ४९ रचे हैं। यह देवता द्रव्य विश्वप्रजापति के शरीर में वैश्य जाति को उत्पन्न करता है इसके अनन्तर शुच् पदार्थ रचा इसका देवता पूषा है। इससे शूद्रवर्ण रचा है। अब यह द्रव्य देवता प्रजापति के शरीर में जहां तक कल्प पूरा नहीं होगा वहां तक ऐसे ही रचते रहेगें। चारों वर्णों की यह मर्यादा वेद में है। जहां वर्णवाली प्रजा वसती है वहां ये चारों वर्ण इसी प्रकार बने रहेगें। धर्म तो अवश्य कभी कोई प्रबल कभी कोई प्रवल होते रहते हैं। एक कल्प मैं मुख्य धर्म १४चौदह होते हैं। इनमें से एक मुख्य होता है और सब गौण अपने-अपने अन्तर में राज करते हैं। कल्पसमाप्ति तक ऐसा ही गौण मुख्य व्यवहार चलता रहता है। इनके अवान्तर युग धर्म होते हैं जिनकी व्यवस्था इस प्रकार है। ऋग्वेद आयुर्वेद उपवेद ब्राह्मण वर्ण परमात्मा का सदंश उपास्य यह चार जिस काल में प्रधान होते हैं और सव गौण होते हैं वह काल सत्ययुग कहाता है। यजुर्वेद धनुर्वेद उपवेद क्षत्रियवर्ण परमात्मा का चिदंश उपास्य प्रधान और सब गौण जब होता है व समय त्रेता होता है। सामवेद गांधर्ववेद उपवेद वैश्य जाति परमात्मा का आनन्दांश उपास्य हैं, वह प्रधान और सव गौण यह जिस समय होता है वह द्वापर युग होता है। यह वेद त्रयी परमात्माके स्वरूप का निरूपण करती है इससे त्रयी कही जाती साम्पराय से सम्बंध रखती है। इन्हीं तीन धर्मों का फल त्रिपाद

विभूति देवमयी कही हैं । इन्ही तीन धर्मो के निष्काम सेवन से तुर्यावस्था सच्चिदानन्द घन उपास्य की प्राप्ति है । अब चौथा अर्थवेद शूद्रवर्ण अव्यक्तांश उपास्य ये चार प्रधान और तन्त्र उपवेद गौण जब होते हैं तब कलियुग होता है । इन्ही चार युगों के अनुसार देशधर्म जातिधर्म कुलधर्म होते हैं । जातिधर्मो से भिन्न ये कभी उज्जवल कभी मलिन कभी यथार्थ । इस तरह धर्म का पालन करती हुई यह जाति रहती हैं इसका कभी लोप नहीं होता है । इस छोटी सी पुस्तक से उन बड़े से बड़े रहस्यों का पता लगता है इससे यह पुस्तक हर एक वेदावलम्बी जाति के अभिमान वाले के लिये देखने लायक है । इसको जैसा मैंने सुना वैसा संस्कृत एवं हिन्दी में सम्बत् १९८० में निर्माण किया ।

विद्वानों का सेवक
आचार्य मधुसूदनशास्त्री
प्राचीन डीन, फैकल्टी आफ दि ओरियण्टल लर्निंग
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी वाराणसी
श्रीमधुसूदनशास्त्रिभवन
भदैनी, वाराणसी

।। श्रीभास्करो विजयतेतराम् ।।

जातिलता

आचार्यमधुसूदनशास्त्रिविरचिता स्वोपज्ञहिन्दीव्याख्या बालक्रीडा युता

भूमा यस्य निमेषो द्रुहिणायुर्वस्तुमात्रसद्वर्ष्मा ।।

अङ्गानि च विप्राद्याः सततं स सनातनः पातु ।।१।।

श्रीकृष्णाय गुरवे नमः । वह भूमा जिस भूमा परमेश्वर का निमेष ब्रह्मा की आयु के बराबर है वस्तुमात्र जिसका शरीर है विप्रादि वर्ण जिसके मुखादि अवयव हैं वह सनातन पुरुष निरंतर सबकी रक्षा करै ।।१।।

शास्त्रिणं रामजीलालं वृतं विविद्वत्तज्जलजैः ।।

पृष्टबान् धार्मिको वैश्यो लच्छोरामः स एकदाः ।।२।

एक दिन विद्याभ्यासशील ब्राह्मणों के सहित विराजमान श्रीरामजी लालजी शास्त्री से धार्मिक वैश्य लच्छीरामजी सुशंकित हुवा पूछने लगा ।।२।।

भगवञ्ज्ञातुमिच्छामि कलौ वर्णस्थितिर्यथा ।।

वृद्धिह्लासावियादेको धर्मो वर्णेन वा युगैः ।।३।।

भगवन् ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि कलियुग में वर्णस्थिति किस प्रकार रहती है, क्या बढना और घटना धर्मका ही होता है किम्वा

युगों के अनुसार वर्ण भी धर्म के साथ घट-बढ़ जाते हैं ।।३।।

केचिद् ब्रुवन्ति वेदोक्तान् वर्णान्नित्यान्युगे युगे ।।

केचिदेव महाप्राज्ञ ! कलावाद्यन्तयोः स्थितिम् ।।४।।

कोई कहते हैं कि वेदोक्त होने से वर्णस्थिति नित्य है कोई सभी युगों में चार वर्ण धर्म की वृद्धि एवं ह्रास के क्रम से उन्नत एव अवनत होते हुए भी विद्यमान रहे आते हैं। हे महाप्राज्ञ ! कोई कहते हैं कि कलियुगमें ब्राह्मण एवं शूद्र दो ही वर्ण रहते हैं बीच के क्षत्रिय एवं वैश्य नष्ट हो जाते हैं ।।४।।

इदानीन्तनवैश्यार्यान् दासीपुत्रांस्तु केचन ।।

संशयो मे महानत्र गुरो ! छेत्तुमतोऽर्हसि ।।५।।

कोई वर्तमान उत्तम वैश्य जाति को दासी पुत्र कहते हैं गुरुजी ! इससे मुझको बड़ा संशय है इसका आप छेदन कीजिए ।५।।

तच्छ्रुत्वार्थ्यं वचस्तस्य क्षणं ध्यात्वा महामनाः ।।

उवाच धार्मिकं श्रेष्ठं स्मयमानमुखाम्बुजः ।।६।।

ऐसा उस धर्मात्मा का वचन सुनकर प्रयोजनीय समझ कर क्षणभर ध्यान करके उदारमना गुरुजी हँसते हुए बोले ।।६।।

लच्छीराम ! प्रियश्रेष्ठ ! श्रृणु तत्वमिहानमघः ।।

आकल्पस्थायिनस्तेतु बेदो यत्र प्रमामियात् ।।७।।

प्यारे सेठ लच्छीरामजी ! यहाँ जो कुछ तत्व है उसे सुनो । वेद से

क्रियमाण व्यवस्था कल्पपर्यन्त रहती हैं अतः वे वर्ण कल्यान्त स्थायी हैं ।।७।।

वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नींश्च ब्राह्मणोऽस्येति वा मनुः ।।
जातिस्थितिमसन्दिग्धां युगेष्वाह चतुर्ष्वपि ।।८।।

वेद वर्णों के बारे में ऐसे कहते हैं । ब्राह्मण वसन्त ऋतु में अग्न्याधान करै, क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य शरद ऋतु में । शूद्र चतुर्थ वर्ण निरग्नि है । दूसरा प्रमाण है ब्राह्मण भूमा परमेश्वर के यज्ञावतार का मुख है और क्षत्रिय भुजा दोनों बाहु वैश्य ऊरु (सांथल) एवं शूद्र चरण से उत्पन्न होता है । यह मंत्र जाति की स्थिति को चारों युगों में निःसंदेह बताता है ।।८।।

ह्रासो वृद्धिश्च धर्मस्य युगेषु क्रमतो मतौ ।।
जातिस्थितेस्तु कौटस्थ्यान् न ह्रासो वृद्धिरेव वा ।।९।।

ह्रास (घट जाना) वृद्धि (बढ़ जाना) ये दोनों धर्म के ही माने हैं जाति स्थिति तो कूटस्थ (नहीं बदलनेवाली) है अतः यह घटती एवं बढ़ती नही है ।।९।।

क्षत्रनाशप्रवृत्तोऽपि जामदग्न्यो हरिः स्वयम् ।।
एकविंशतिधा वापि मूलनाशस्ततोऽपि न ।।१०।।

इसमें इतिहास प्रमाण देते हैं । भगवान् के अवतार परशुरामजी २१ इक्कीस वार क्षत्रिय जाति का नाश करने को प्रवृत्त हुए । परन्तु नाश नहीं कर सके अपितु दशरथ राजकुमार रामचन्द्र के

सामने क्षत्रियों के गौरव को बढ़ाकर आप तप करने चले गये मूल का नाश तब भी नहीं हुआ ।।१०।।

कस्यास्मिन् विषये प्रौढिर्यः स्यादपि सुरेश्वरः ।।
क्षत्रियाणां विशां मूलनाशं ब्रूयात्कलाविह ।।११।।

इस विषय में किस की प्रौढि है सुरेश्वर (इन्द्र) भी क्यों न हो जो कि कलियुग में क्षत्रिय और वैश्य जाति के नाश की युक्ति कह सकता है अर्थात् जाति नाश का कारण कोई उपस्थित नहीं कर सकता है ।।११।।

महाराष्ट्रादिदेशेषु न स्तो वर्णौ तु मध्यगौ ।।
यच्च ब्रुवन्ति तत्रत्याः कलावाद्यन्तयोःस्थितिम् ।।१२।

जो कि महाराष्ट्रादि देशों में मध्यम दो वर्ण (क्षत्रिय एवं वैश्य) नहीं मिलते हैं और वहाँ वसने वाले ब्राह्मण वा स्मृतिकार कहते हैं कि कलियुग में आद्यन्त (ब्राह्मण शूद्र) की ही स्थिति है ।।१२।।

अत्र मे श्रृणु धर्मिष्ठ ! गुह्यं यद्यप्यसि प्रियः ।।
आर्यावर्त्ते पुण्यदेशे न्यूषुर्वै ब्राह्मणादयः ।।१३।।

इस विषय में मुझ से सुनो । हे धर्मिष्ठ ! इसका रहस्य गुह्य है । परन्तु तुम प्यारे हो इसलिए प्रकाशन करता हूँ । पहले किसी समय धर्म की पूर्ण स्थिति हो चुकने पर आर्यावर्त्त आदि पवित्र देशों में हो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अपना-अपना वासस्थान कल्पना करके वसने लगे ।।१३।।

कृष्णसारमृगाकीर्णा द्विजावासार्हनीवृतः ।।
धर्मात्मानोऽवसंस्तत्र यत्नादित्याह धातृजः ।।१४।।

जहाँ कृष्णमृग (काला हिरण) विचरता है। वह देश यज्ञ-कर्त्ताओं के वास योग्य माना गया है वहाँ ही यत्नसे धर्मात्मा लोग वसने लगे ऐसा मनुजी लिखते हैं ।।१४।।

शूद्राः प्रत्यन्तदेशेषु वृत्तिलोभात्पुरोऽवसन् ।।
वंगादिष्वपि देशेषु नार्या वासमकल्पयन् ।।१५।।

प्रत्यन्त देशोमें [समुद्र के इस पार और उस पार] में वृत्ति के लोभ से शूद्र जा बसे। यहाँ तक कि वंगादि देशों मे भो आर्यलोग नहीं बसे ।।१५।।

सच्छूद्रानाश्रिता वत्स! धर्म्ये कर्मणि चार्थिताः ।।
वृत्तिलोभादवात्सुर्व्वै प्रत्यन्ते ब्राह्मणास्ततः ।।१६।।

हे वत्स! प्रत्यन्त देशों में वसनेवाले उस समय के उत्तम शूद्रों ने अपने धर्म कार्य को कराने के लिए ब्राह्मणों से प्रार्थना की। तब वृत्तिलोभ वश उपकारी भावनावाले ब्राह्मण प्रत्यन्त देशों मे जा वसे ।।१६।।

यान्नाश्रयेयुरेतेऽपि ते जाता म्लेच्छजातयः ।।
समुद्रपरपारे तु नो गता विधिमाश्रिताः ।।१७।।

यहाँ तक कि समुद्र के परले पार में ब्राह्मणों के विधि-

वश [धर्म के अनुरोध से] नहीं जाने से वहाँ समुद्र पार के लोग शूद्र न गिने जा कर म्लेच्छ गिने जाने लगे ।

शनकैश्च क्रियालोपाद् ब्राम्हणानामदर्शनात् ।

वृषलत्वं गता लोके इमाः क्षत्रियजातयः । यह पुराण है ।।१७।।

अतो न तेषु देशेषु मध्यमौ हि विनङ्क्ष्यतः ।।

पुण्ये ब्रह्मर्षिदेशेऽस्मिन् चतुर्णामेव दर्शनात् ।।१८।।

इसीसे प्रान्त देशों में मध्यम वर्ण क्षत्रिय एवं वैश्य नहीं हैं ऐसा नहीं है कि नाश होने से वे नहीं हैं । क्यों कि इधर इन पवित्र ब्रह्मर्षि देशों में चारों वर्ण मिलते हैं ।।१८।।

कलावाद्यन्तयोरेव भागयोर्धर्मसंस्थितिः ।।

सम्यगित्येव रक्षायां परीक्षित्कल्किनोर्मता ।।१९।।

कलियुगमें आद्यन्त की स्थिति प्रामाणिक है तो उसका अर्थ यह है कि कलियुग के आदि [पहले भाग में] परीक्षित के समय में और अन्त में कल्कि भगवान् के समय में इनकी रक्षा के कारण धर्म की सम्यक् स्थिति रहती है बीच मे नहीं ।।१९।।

धर्मस्तु द्रव्यसंस्कारो जातिर्द्रव्यात्पृथग्यतः ।।

अतो धर्मो न वै जातेर्वर्द्धको ह्रासकस्तथा ।।२०।।

धर्म के साथ जाति के नष्ट नहीं होने का कारण धर्म द्रव्य संस्कारक है। जाति द्रव्य से पृथक् [अलग] वस्तु है। इसी लिए धर्म जाति को बढाने एवं घटाने वाला नही हो सकता है ।।२०।।

ऋषित्वं पूर्वजा भेजुर्वर्णधर्मनिषेवया ॥
आश्रमाणामनुष्ठानादृषि प्रवरादयः ॥२१॥

वर्णधर्म के सेवन से पहले लोग ऋषि कहाते थे तब भी जाति उनके साथ बोली जाती थी जैसे ब्रम्हर्षि, राजर्षि इत्यादि। आश्रम धर्म के सेवन से उन्हें प्रवर पदवी मिलती थी, वहाँ भी जाति साथ ही बोली जाती है जैसे ब्रम्हर्षि प्रवर राजर्षि प्रवर इत्यादि ॥२१॥

अत एव पृथग्धर्मा आपत्कालादिषु स्मृताः ॥
जात्यभावे कलेरन्ते जातिधर्मः कमाश्रयेत् ॥२२॥

इसीसे आपत्कालादि के भिन्न २ धर्म कहे गये हैं। सर्वथा जाति के नाश हो जाने पर कलियुग के अन्त में उस जाति का धर्म किस को आश्रय कर सकता है यह भी कारण है कि कोई जाति नष्ट नहीं हो सकती ॥२२॥

दस्याद्या ये प्रसिद्धास्तु ज्ञेया दासीसुता बुधैः ॥
वैश्यशाखास्तु निखिला वक्ष्ये प्रक्ष्यसि चेत्पुनः ॥२३॥

दासी पुत्र तो वह वैश्य हैं जो दस्सा इस नाम से प्रसिद्ध हैं। वैश्य शाखाओं से यहाँ प्रयोजन नहीं है वे तो निखिल हैं माने खिल नष्ट नहीं है। यदि इच्छा होवेगी तो पूछने से फिर कहीं जावेगी, "अव तो कहना केवल इतना ही है कि चारों युगों में चार वर्ण की" स्थिति रहती है बस ॥२३॥

परम्भूयः प्रवक्ष्यामि जातिवृत्तं सुगोपितम् ।।
बाल्मीकीयोत्तरे काण्डे स्फुटमुक्तं महर्षिणा ।।२४।।

अब जैसे जाति की स्थिति चारों युगों में उन्नत, एवं अवनत भावसे रहती है उसे दिखा देते हैं। यह जाति रहस्य सुगोपित है। मर्हषियों ने इसको खुलासा करके लिखा है ।।२४।।

पुरा कृतयुगे वत्स ! ब्राह्मणास्तु तपस्विनः ।।
अब्राह्मणो जनः कश्चिन्न तपश्वी कथंचन ।।२५।।

हे वत्स ! प्यारे लच्छीरामजी ! पहले सत्ययुग में ब्राह्मण ही उन्नत थे ब्राह्मण से अन्य किसी जातिका कोई जन तपस्वी नहीं होता था ।।२५।।

अज्ञानावृतिरहिते प्रभावज्वलिते युगे ।।
ब्रह्मभूते जनाः सर्वेऽमृत्यवो दीर्घदर्शिनः ।।२६।।

अज्ञान के आवरण से रहित होने के प्रभाव से प्रज्वलित ब्रह्मभूत सत्ययुग में सब लोग मृत्युलोक के स्वाभाविक पापों से विहीन दीर्घ-दर्शी होते थे ।।२६।।

अत एव युगे तस्मिन् वर्णो हंसो नृणाम्मतः ।।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा आसन् पृथक्पृथक् ।२७।

इसी से इस युग में सब मनुष्य हंस वर्ण माने जाते थे।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र सब अलग २ रहते हुए भी हंस नाम से कहे जाते थे ॥२७॥

आहात्र भगवान्व्यासः पृथग्जातिभिदां प्रति ॥
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात्कृतयुगं त्विति ॥२८॥

भगवान् व्यास जी ने जाति भेद के विषय में ऐसा कहा है कि उस युग में जातिके बदौलत सब मनुष्यों के कृतकृत्य होने से ही उस युग को कृतयुग कहते हैं ॥२८॥

धर्मस्य कालतो ह्रासो ह्यहन्तावेशतोऽभवत् ॥
त्रेता नाम्ना युगं तत्र क्षत्रियास्तपसान्विताः ॥२९॥

काल के प्रभाव से अहंता का आवेश होने पर चतुष्पात् धर्म त्रिपात् हो गया अतः धर्म का परिवर्तन हेरफेर हुआ जिससे इस युग का नाम त्रेता युग हुआ । त्रीन् भेदान् एति प्राप्नोति धर्मः यत्र स त्रेतायुगः । त्रेतायुगे समायाते धर्मः पादोनतां गतः । यह पद्म पुराण का वचन है । इस युग में क्षत्रिय तप से अन्वित हुए ॥२९॥

प्रभावेण च धर्मस्य नाहन्ता पूर्वजन्मनि ॥
इदानीन्तु वपुष्मन्तो युगधर्मभिदा ततः ॥३०॥

पहले युग में धर्म के प्रभाव से उस युग के मनुष्यों में अहंता नहीं थी । त्रेता युग में तो शरीराभिमान हुआ इसीसे मनुष्यों में धर्म बदल गये ॥३०॥

वीर्येण तपसा चैव तेऽधिकाः पूर्वजन्मनि ।।
मानवा ये महात्मानस्तत्र त्रेता युगे ऽभवन् ।।३१।।

सत्ययुग में तपोवीर्य अधिक था। त्रेता युग में शरीर और तप इन दो के वीर्य से मनुष्य महाप्रतापी हुवे ।।३१।।

सावित्र्याख्या कृते शक्तिर्ब्राह्मणानां मनस्यभूत् ।।
प्रबुद्धा, बाहुजे सुप्ता वेदमाता विशां न सा ।।३२।।

सत्ययुग में ब्राम्हणों के मन में सावित्री शक्ति [पदार्थ रचने वाला ज्ञान अर्थात् वेदमाता] प्रबुद्ध रहती थी। क्षत्रियों के मनमें वह शक्ति सुप्त रहती थी। वैश्यों के मन पर वह शक्ति नहीं थी ।।३२।।

शाखारोपणवत्तत्र शुद्धितो वैश्यजातिषु ।।
ब्रह्मविद्वंशगणना कृता विप्रमहोभुजाम् ।।३३।।

शाखा के रोपण की तरह वह शक्ति शुद्धि के बल वैश्य पर जाति में भी उत्पन्न करी जाती थी। सावित्रीशक्ति वाले वेद के प्रकाशक ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के वंश ही वेद में कहे गये हैं ।।३३।।

अत एवेतिहासश्च विशेषान्न विशां श्रुतः ।।
त्रेतायुगे तपोयोगाद्विप्रतां क्षत्रिया गताः ।।३४।।

इसी कारण वैश्यों का इतिहास बहुधा नहीं मिलता है हमारे वैदिक इतिहास उनहीं लोगों के हैं जो अपनी सावित्री शक्ति के बल

से मन्त्र प्रकाश कर सकते हैं और मन्त्र प्रकाशित पदार्थो की निर्माण शक्ति रखते थे। अर्वाचीन इतिहासों में तो उदाहरण इस नियम से लिखे जाते हैं जैसे शुक्रनीति का श्लोक १-६ दातॄणां धार्मिकाणां च शूराणां कीर्तनं सदा। शृणुयात्तु प्रयत्नेन तच्छद्रं नैव लक्षयेत्। ऐसे इतिहास वैश्यों के भी होने सम्भव है। त्रेता युग में क्षत्रिय जाति मे उत्पन्न हुआ पुरुष तपोवल से ब्राम्हण जाति में शामिल हो जाता था ॥३४॥

किञ्च क्रियागुणैर्जातिरुच्चवीर्यानुलोमतः ॥
वीर्यसंस्कारमाहात्म्यान्मता वैदिकजातिषु ॥३५॥

विद्याकृत एवं गुणकृत उच्चवीर्य वाली जाति दो प्रकार की मानी गई है। एक विद्यासन्ताननिमित्त दूसरी योनिसन्ताननिमित्त। एक शाखा का कोई अंग दूसरी शाखाओं वाले विद्यार्थी को कन्या प्रदान की तरह दिया जाता था। जिससे उसकी आश्रित सन्तान उस शाखा के संचारक गुरु की जाति वाली कहा सकती है। यह वैदिक जाति है। योनि सम्बन्ध से जाति व्यवहार प्रसिद्ध है। विश्वामित्रकी माता के लिए दी हुई ब्राह्मणवीर्यप्रद आहुति के परिणाम से क्षत्रिया से ब्राह्मणोत्पत्ति हुई। यह क्रियागुण कृत वैदिक जाति कही है। इसका रहस्य विस्तृत है, अतः यहाँ नहीं लिख रहे हैं। वेदमंत्र से वीर्य सस्कार के महात्म्य से वैदिक जाति है। इनही जातियों का अनुलोम व प्रतिलोम भाव से बदलना मानते हैं। भिन्न क्षेत्र में भिन्न वीर्य से उत्पन्न हुए व्यक्ति को प्रतिलोमादि व्यवहार होने पर वर्ण

संकर जातिवाला कहा जाता है। जातिस्थिति में यह शामिल नहीं हो सकता है ।

वीर्य संस्कार बल से जातिपरिणाम भी वैदिक जाति में ही माना गया है ॥३५॥

लौकिकव्यवहारेषु वीर्यतः क्षेत्रतोऽपि वा ॥
ना हीनवर्णो वर्णोच्चमारोहति कथंचन ॥३६॥

वीर्यसम्बन्ध से वा क्षेत्रसम्बन्ध से लौकिक जाति व्यवहार में हीन जाति उच्च जाति में शामिल कभी नहीं हो सकती है ॥३६॥

अन्यथा संकरे जातेर्भेदं ब्रूयात्कथं मनुः ॥
कलाजातिस्तु वर्णेषु वृत्त्यर्था चेतरेष्वपि ॥३७॥

यदि लौकिक जाति भी शामिल होनी मान ली जाय तो मनुजी के लिखे वर्णसंकर भेद असंगत हो जायँगे वृत्ति आजीवन के वास्ते कलाधारी मनुष्यों की उन कलाओं से भी जाति मानी जाती है ॥३७॥

सुप्तशक्तिप्रबोधेन ब्राह्मण्यं गाधिजादिषु ॥
वेदेतिहासगाथाया ब्रह्मज्ञेषु हिवर्णनम् ॥३८॥

सुप्त शक्ति के प्रबोध से विश्वामित्रादि की ब्राह्मण जाति मानी गई है। वेद के इतिहासगाथाओं में वंश प्रस्तावना हैं यह सब वेद मन्त्र प्रकाशक ऋषियों का वर्णन है लौकिक जाति की कथा नहीं है ॥३८॥

ब्रह्म क्षत्रं च तत्सर्वं यत्पूर्वमवरं च यत् ॥
युगयोरुभयोरासीत्समवीर्यसमन्वितम् ॥३६॥

सत्ययुग में ब्राह्मण उच्च बलवाले और क्षत्रिय न्यून बलवाले त्रेता युग में दोनों समबलवाले हो गये थे ॥३६॥

अपश्यन्तस्तु ते सर्वे विशेषमधिकं ततः ॥
स्थापनं चक्रिरे तत्र चातुर्वर्ण्यस्य सम्मतम् ॥४०॥

परस्पर की विशेषता न होने के कारण चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के सम मानने के लिए सब की सम्मति से स्मार्तधर्म स्थापन किये गए ॥४०॥

देहाभिमानात् त्रेतायां सुप्तप्रायां विलोक्य तां ॥
प्रबोधाय त्रयीमातुः संस्काराः स्थापिता बुधैः ॥४१॥

त्रेतायुग में देहाभिमान से वेदमाता की शक्ति के सुप्त हो जाने पर उसके प्रबोध के [जगाने] के लिए गर्भाधानादि संस्कार स्थापन किये गये ॥४१॥

तस्मिन्युगे प्रज्वलिते धर्मभूते ह्यनावृते ॥
अधर्मोऽपातयत्पादमेकं तु पृथिवीतले ॥४२॥

सत्ययुग जैसे ब्राह्मणप्रधान था वैसे ही त्रेता युग प्रज्वलित भूप्रतापी क्षत्रिय प्रधान है । ज्ञान के आवरण [ढकनेवाले] से

रहित है परन्तु देहाभिमान के संचार होने से अधर्म ने पृथिवी दल के ऊपर अपना एक पाद गिरा दिया ।।४२।।

हिंसारूपेण पादेन प्रवृत्तो ब्राह्मणादिषु ।।
अधर्मस्तेन सम्बन्धान्मन्दं तेजोऽभवत्तदा ।।४३।।

ब्राह्मणादि सबही जातियों में हिंसारूप एकपाद से अधर्म प्रवृत्त हुआ तब अधर्म के फैलाव से उसका तेज मंद होने लगा ।।४३।।

राजसं मलवद्यच्च पूर्वेषामामिषं भृशम् ।।
अनृतं तेन तज्जातं यत्सत्यं पूर्वजन्मनि ।।४४।।

पहले युग में जो निर्मल भोग पदार्थ था वह सब रजोगुणी अत एव मैला हो गया जो पहले युगमें सत्य था वह अनृत [झूठा] हो गया ।४४।।

अनृतेन तु संयुक्तः पादोऽधर्मस्य सोऽपतत् ।।
तेन प्रादुष्कृतं पूर्वमायुषः परिनिष्ठतम् ।।४५।।

अनृत के साथ-साथ अधर्म का पाद फैल जाने से आयु घटने लगी ।।४५।।

पातिते त्वनृते तस्मिन्नधर्मेण महीतले ।।
शुभान्येवाचरल्लोकः सत्यधर्मपरायणः ।।४६।।

अधर्म ने अनृत को फैलाया तब भी सत्यधर्मपरायण हुए सब लोग शुभाचरण ही करते रहे ।।४६।।

त्रेतायुगे च वर्तन्ते ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्च ये ॥
तपोऽतप्यन्त ते सर्वे शुश्रूषामपरे जनाः ॥४७॥

त्रेतायुग में ब्राह्मण और क्षत्रिय दो हो तपश्चर्या करते रहे और सब इनकी शुश्रूषा करते थे ॥४७॥

स्वधर्मः परमस्तेषां वैश्यशूद्रौ तु पूर्वगौ ॥
पूजां च सर्ववर्णानां शूद्राश्चक्रुर्विशेषतः ॥४८॥

स्वधर्म को ही सब लोक प्रधान मानते थे। वैश्य-शूद्र पहली जाति के साथ मिले जुले रहते थे। विशेष कर शूद्र सबकी पूजा करता रहा ॥४८॥

प्रौढेनाधर्मपादेन प्रबले चानृते ततः ॥
धर्मः पूर्वः पुनर्ह्रासमगमत्सज्जनप्रिय ! ॥४९॥

हे सज्जन प्रिय लच्छीरामजी ! अधर्म के हिंसारूप पाद के बढ़ने से अनृत प्रबल हुआ इससे पहले धर्म का घटना आरम्भ हुआ ॥४९॥

ममताङ्कुरिता वत्स ! देहाहन्ताप्रसादतः ॥
ततः पादमधर्मोऽत्र द्वितीयमवतारयत् ॥५०॥

इस अवस्था में देहाभिमान के प्रसाद से ममताका अङ्कुर उत्पन्न हुआ। यह अधर्म का दूसरा पाद पतन हुआ ॥५०॥

ततो द्वापरसंज्ञा तु युगस्य समजायत ॥
द्वापरेऽस्मिन् युगे सौम्य ! तपो वैश्यान् समाविशत् ।५१।

धर्म-अधर्म के दो-दो पादों की संख्यासमता के कारण वलावल में सन्देह होने पर इस युग की द्वापर संज्ञा कही गई। हे सोम्य ! द्वापर युग में तप (प्रताप) ने वैश्य जाति में आश्रय किया ।।५१।

त्रिभ्यो युगेभ्यस्त्रीन् वर्णे तप आविशत् ।।
त्रिभ्यो युगेभ्यो वर्णेषु त्रिषु धर्मश्च निष्ठितः ।।५२।।

जैसे तीन युगों के परिवर्तन से तप तीन वर्णों में प्रवेश करता है वैसे ही तीन युगों के क्रमसे धर्म भी तीन वर्णों में स्थिति करता है ।५२।

न शूद्रो लभते धर्मं युगतो नरपुंगव ! ।।
युगत्रये द्विजातीनां सेवा शूद्रेषु शाश्वती ।।५३।।

वाल्मीकि रामायण में वशिष्ठजी रामभद्र से कहते है कि हे नरपुंगव ! तीन युगों में तीन वर्ण की सेवा के अतिरिक्त शूद्र के लिए कोई धर्म नहीं है ।।५३।।

प्राबल्यान्ममताशक्तेः प्रौढेश्चाधर्मपादयोः ।।
सुप्ता मृता क्रमेणैव वेदशक्तिर्द्विजातिषु। ।५४।।

ममता शक्ति के प्रबल होने से और अधर्म के दोनों पादों के प्रौढ़ होने से द्विजाति ब्राह्मणों में वेदजननशक्ति सावित्री क्रम से सुप्ता और मृता हो गई ।।५४।।

असन्तोषस्ततः पादो ह्यधर्मस्यापतद्भुवि ।।
कूटानि द्विजकर्माणि तपः शूद्रेषु चाविशत् ।।५५।।

ऐसी अवस्था में असंतोष ने जन्म धारण किया अधर्म ने भी

अपना तीसरा चरण भूमि पर फैलाया। द्विजाति के तीनों वर्णों के कर्म कूट कपट मय हो गये।' तप (प्रताप) शूद्रों में प्रवेश कर गया ।।५५।।

विग्रहाख्योऽधर्मपादः प्रवृत्तस्तदनन्तरम् ।।
अत एव युगस्यास्य कलिरित्यभिधा मता ।।५६।।

अधर्म का तीसरा चरण विग्रह [विवाद] प्रवृत्त हो गया। इसी कारण इस युग का नाम कलियुग हुआ है ।।५६।।

देहोपकरणे बाह्येऽहन्ताऽसन्तोषकारणम् ।।
तत्रैव ममता तात ! विषादं जनयत्यमुम् ।।५७।।

देह और देह के साधन में अहन्ता और ममता असंतोषका कारण है। देहोपकरण में ममता ही कलिनामक विवाद को उत्पन्न करती है ।।५७।।

क्रमेणाधर्मपादैस्तु धर्महानिर्द्विजन्मनाम् ।।
वर्णधर्मोऽप्यतो नष्टो यथा क्षत्रोपनायनम् ।।५८।।

अधर्म के पाद क्रम से बढ़ते हुए त्रैवर्णिक धर्म की हानि करते हैं। इस कारण वर्ण धर्म लुप्त हो जाते हैं जैसे क्षत्रियों के उपवीतादि कर्म ।।५८।।

गर्भाधानादिसंस्कारैर्ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।।
असंस्कृतस्य वेदो नेत्याह स्वायंभुवो मनुः ।।५९।।

गर्भधानादि संस्कारों से शरीर वेदों के योग्य किया जाता है विना संस्कार किये वेदों का पढ़ना एवं पढ़ाना नहीं होता है ऐसा स्वायम्भुव मनुजी कहते हैं ।।५६।।

वेदमाता सवेदा च संस्कारा अग्निभिः सह ।।
सर्वे लुप्ताः कलेर्दोषाद् द्विजेषु सकलेष्वपि ।।६०।।

वेदमाता [सावित्री] और वेद एवं संस्कार तथा अग्नि ये चारों सब द्विजातियों में कलि के दोष नष्ट से हो गये ।।६०।।

युगधर्मा इमे वत्स! वेदोक्ताः शाश्वता मताः ।।
ह्रासो वृद्धिश्च वर्णेषु मूलनाशो न कस्यचित् ।।६१।।

हे वत्स ! यह युगधर्म भी वेदोक्त होने से प्रति युग में वृद्धि और ह्रास क्रमसे स्थायी रहते हैं। मूल नाश किसीका नहीं होता है ।।६१।।

चतुर्णामपि वर्णानां सत्ता युगचतुष्टये ।।
स्थिरा वाल्मीकिना प्रोक्ता संशयो निष्प्रयोजनः ।६२।

चारों वर्णों की सत्ता चारों युगों में स्थित है। यह वाल्मीकिजी ने कही है अतः संशय करना निष्प्रयोजन है ।।६२।।

उपवीतादिलोपेऽपि व्रात्यता वर्णतापि च ।।
व्रात्योऽपि ब्राह्मणो भाष्ये भगवानाह वात्स्यजः ।।६३।।

यज्ञोपवीतादि संस्कारों के लोप होने पर भी व्रात्यता मय वर्णता स्थिर रहती है। भगवान् वात्स्यायन अपने भाष्य में कहते हैं कि व्रात्य में भी ब्राम्हणत्व है ।।६३।।

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते
धर्मशास्त्रमशेषेण प्रायश्चित्तविधिम्पुनः ।।
युगधर्मान् सुनिर्णीय ज्ञात्वा वर्णादिपद्धतीः ।।६४।।

इस प्रकार चारों युगों में चारों वर्ण स्थिर रहते हैं। तबही धर्म रक्षक विद्वानों ने धर्मशास्त्र वा प्रायश्चित्त विधि के अनुसार वर्णादि पद्धति से युगधर्म का तत्वनिर्णय किया ।।६४।।

व्रात्यानपि द्विजान्सम्यक् संस्कुर्युर्धर्मरक्षकाः ।।
एवं परम्पराप्राप्तः प्रचारो वर्णसन्ततेः ।।६५।।

जाति जन्म का ही नाम है और जिस जाति के दंपती होवे उसही जाति के वे सन्तान हैं। जैसे व्यासस्मृति जन्म से ब्राम्हण है संस्कार से द्विज कहता है विद्या से विप्र तथा तीनों से श्रोत्रिय होता है। व्रात्य जनों का संस्कार करके वर्णस्थिति की रक्षा करते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार वर्णजाति स्थिति सनातन है कभी लुप्त नहीं होगी ।।६५।।

कलौ पुनः पुनर्वत्स! कल्पान्तावधिरीरितः ।।
पुराणेषु पुराणज्ञैः संशीतिर्लेशतोऽत्र न ।।६६।।

कलियुगमें फिर फिर जीर्णोद्धार द्वारा जातिस्थापन की जायेगी यह पुराणों में पुराणवेत्ता कहते हैं इसमें लेश भर भी संशय नहीं हैं ।।६६।।

चैरावाख्ये धनिकनगरे धार्मिको लच्छिरामो
ऽप्राक्षीज् जातिं रतिपतिवपू रामजीलालशास्त्री ।।
अङ्कानङ्गग्रहशशिमिते हायने ह्यमूचे
चातुर्वर्ण्यस्थितिमतिशुभां प्रौढिदां जातिवादे ।।६७।।

इति मधुसूदनशास्त्रिविरचिता युगचतुष्टयीयजातिस्थिति-बोधिका जातिलता समाप्तिवाटिकामगमदिति शम् ।।

●

॥ श्रीः ॥

श्रीशैवो विदधातु विघ्नविरतिं वाग्देवता सद्वचः ।
श्रीरङ्गश्च तथात्र पाठकरतिङ्कुर्याद्यतः कामभूः ॥

आश्रम-परम्परा में कुल चार आश्रम हैं-ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम । इनमें गृहस्थाश्रम सब से श्रेष्ठ होता है क्यों कि अन्य तीन आश्रम अपने सांसारिक अस्तित्व के लिये इसी पर निर्भर हैं अतः इसके अपने स्वतन्त्र कुछ विशेष कर्त्तव्य हैं, जिन से उसके श्रेष्ठता की रक्षा हो सके ।

गृहस्थाश्रमी वेद में बताये हुये अपने आश्रम तथा वर्ण के अनुरूप व्यवहार करे। उसके लिये प्रवृत्ति मार्ग के कर्तव्य स्वतन्त्ररूप से निर्दिष्ट हैं जिनमें वह वर्ण एवं आश्रम की मान मयोदा का यथाशक्ति पालन करे और अपने अनुष्ठित कर्मों को परमात्मा के चरणों में उसके प्रीत्यर्थ समर्पित करे तथा साथ ही निम्नलिखित तथ्यों के सम्बन्ध में चिन्तन करे -

१. वेदरूप परमात्मा की अनुकूलता का ध्यान रखना ।
२. प्रतिकूलता का त्याग करना ।
३. परमात्मा की की हुई रक्षा का विश्वास करना (अर्थात् भगवान् वासुदेव जब जब आवश्यकता पड़ती है । तब तब मेरी रक्षा के लिये उद्युक्त रहते है इस पर विश्वास करना) ।
४. जब मेरा परमात्मा रक्षक है तो मुझे किसी तरह का भय नहीं है-ऐसी दृढ़ वृत्ति का उत्पादन करना ।
५. मैं जो कुछ करता हूँ वह परमात्मा की प्रेरणा से उन्हीं की आज्ञा का पालन करता हूँ ।

इस संसार में मानव मात्र की दो प्रवृत्तियां हैं -एक स्वाभाविक

प्रवृत्ति तथा दूसरी शास्त्रीय प्रवृत्ति।

१. स्वाभाविक प्रवृत्ति—यह प्रवृत्ति स्वतः सिद्ध है, राग एवं द्वेष से होती है अतः बलवती है। इसी से इसे आसुरी प्रवृत्ति कहते हैं। इसी के आविर्भाव एवं तिरोभाव को दैवासुर संग्राम कहते हैं। इस प्रकृति का निष्कर्षतः फल स्थावरान्त अधोगति है। यह प्रवृत्ति प्राणियों के रुचिभेद से अनन्त प्रकार की है।

२. शास्त्रीय प्रवृत्ति -यह प्रवृत्ति शास्त्र और गुरु के आदेशानुसार होती है। अतः पराधीन है। राग एवं द्वेष से नही होने के कारण दुर्बल भी है। इसे दैवी प्रवृत्ति भी कहते हैं। इसके स्वतन्त्रतया तीन भेद हैं-

(१) कर्मयोग (२) भक्तियोग तथा (३) ज्ञानयोग।

१. कर्मयोग—तप तीर्थ दान याग इत्यादि के सेवन को कर्मयोग कहते है। जैसा कि शास्त्र का निर्देश है—कर्मयोगस्तपतीर्थ-दानयागादिसेवनम्।

२. भक्तियोग—उत्कृष्ट तथा अव्यभिचरिणी प्रीति से ध्यान आदि में अवस्थित होना ही भक्तियोग है, जैसे—

भक्तियोगः परैकान्त-
प्रीत्या ध्यानादिषु स्थितिः।

३. ज्ञानयोग—अन्तःकरण के सङ्कल्पों को जीत कर शुद्ध आत्मा में अवस्थित होना ज्ञानयोग है, जैसे—

ज्ञानयोगो जितस्वान्तैः
परिशुद्धात्मनि स्थितिः।

इन तीनों योगों का शास्त्रों में बड़े समारोह के साथ वर्णन किया है। यहाँ मुख्य रूप से विचार्य कर्मयोग में निर्दिष्ट तीर्थनिषेवण मात्र को बतलाते हैं तीर्थ तीन प्रकार के होते हैं—

(१) जंगम (२) मानस तथा (३) स्थावर, जैसे—

१. जंगमतीर्थ—

ब्राह्मणा जङ्गमं तीर्थं निर्मलं सार्वकामिकम् ।
येषां वाक्योदकेनैव शुद्धयन्ति मलिना जनाः ।।
शास्त्रं यागादिकञ्चापि जङ्गमेष्वेव कीर्तितम् ।

ब्राह्मण एवं शास्त्र तथा विष्णु रुद्र और अश्वमेध आदि याग ये सभी जंगमतीर्थ कहे हैं। ब्राह्मणों के उपदेश के अनुसार किये गये शास्त्रोक्त अनुष्ठान मलिन मनुष्य को निर्म्मल करते हैं। ये तीर्थ स्वयं निर्मल है और सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करते हैं।

२. मानसतीर्थ—

शृण् तीर्थानि गदतो मानसानि ममानघे ! ।
येषु सम्यङ् नरः स्नात्वा प्रयाति परमां गतिम् ।।
सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः ।
सर्वभूतदया तीर्थं सर्वत्रार्जवमेव च ।।
दानं तीर्थं दमस्तीर्थं सन्तोषस्तीर्थमेव च ।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता ।।
ज्ञानतीर्थं धृतिस्तीर्थं पुण्यतीर्थमुदाहृतम् ।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा ।
एतत्ते कथितं देवि मानसं तीर्थलक्षणम् ।।

अगस्त्य तथा लोपामुद्रा के परस्पर संवाद में अगस्त्यजी ने कहा कि हे अनघे ! सत्य, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, सभी प्राणियों पर दया, आर्जव, शम, दम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, प्रियवादिता, ज्ञान, धृति, पुण्य कर्म करना तथा मनः शुद्धि ये चौदह मानस तीर्थ है। इनमें भी परमतीर्थ मनः शुद्धि ही है।

३. स्थावरतीर्थ—

भौमानामपि तीर्थानां पुण्यत्वे कारणं शृणु ।

यथा शरीरस्योद्देशाः केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः ।।
तथा पृथिव्या उद्देशाः केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः ।
प्रभावादद्भुतान्द्भूमेः सलिलस्य च तेजसा ।।
परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता मता ।

भूमि के तीर्थों के पुण्य होने के हेतु को सुनो --जैसे शरीर के कोई कोई हिस्से अत्यन्त पवित्र होते हैं, वैसे ही भूमि के भी कोई कोई हिस्से अत्यन्त पवित्र होते हैं। भूमि के विचित्र प्रभाव से जल के तेज से और मुनियों के तप का वास होने से उन स्थानों को पुण्य माना है, जिन्हें तीर्थ कहते हैं,जैसे काशी-प्रयाग आदि।

तीर्थस्नान से परमगति—

तस्माद्भौमेषु तीर्थेषु मानसेषु च नित्यशः ।
जङ्गमेष्वपि यः स्नाति स याति परमां गतिम् ।।

अतएव उपर्युक्त तीर्थ सम्बन्धी विवरण का मनन करके जो मनुष्य नित्य स्थावर जङ्गम तथा मानस तीर्थों में स्नान करता है वह परमपद को प्राप्त करता है।

तीर्थयात्रा के कर्त्तव्य एवं महत्त्व—

अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यनभिगम्य च ।
अदत्वा काञ्चनीं गाञ्च दरिद्रो नाम जायते ।।
अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ।
न तत्फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत् ।।
तीर्थान्यनुस्मरन्धीरः श्रद्धधानः समाहितः ।
कृतपापोऽपि शुद्ध्येत किम्पुनः शुद्धकर्मकृत् ।।

यदि मनुष्य तीर्थ में तीन रात उपवास न करे और जो तीर्थ-यात्र नहीं करे तथा जो गौ एवं सुवर्ग का दान नहीं करे वह जन्मान्तर में दरिद्र हो जाता है। बड़ी बड़ी दक्षिणावाले विशाल अग्निष्टोम आदि यज्ञों को करने से जो फल नहीं होता है, उससे अधिक फल तीर्थयात्रा

से प्राप्त होता है। तीर्थयात्रा के माध्यम से पापी मनुष्य भी श्रद्धा एवं सावधानी पूर्वक तीर्थों का स्मरण करके शुद्ध हो जाता है, फिर सदाचारी की तो बात ही क्या है, वह तो शुद्ध होता ही है।

इस प्रकार वर्णित यह तीर्थयात्रा की प्रक्रिया सनातन तथा वेद-मूलक है। तीर्थयात्रा-प्रकरण में चार धाम की व्यवस्था की गई है जिनमें अलग अलग भगवान् की चतुर्व्यूह मूर्तियाँ एक एक के भाव से एक एक करके पूजो जाती है। हमारे धार्मिक वैदिक विद्वानों ने उपासना के प्रकरण में भगवान् की चतुर्व्यूह मूर्ति में यह विशेषता बतलाई है कि जो भगवान् नारायण वासुदेव परमात्मा उपासना काण्ड में ज़ीव समूह के आत्मा नारायण कहलाते हैं।

वही नारायण भगवान् वद्रीखण्ड में श्रीवद्रीनाथजी महाराज शब्द से तीर्थयात्रा के लक्ष्य उपास्यदेव होते हैं। १

यही भगवान् निखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि के कर्त्ता ब्रह्मदेव चतुर्व्यूह मूर्ति में प्रद्युम्न शब्द से और तीर्थविभाग में जगदीश शब्द से उपास्य एवं ध्येय होते है। २।

वही भगवान् लिङ्गात्मक प्राण के अधिष्ठान चतुर्व्यूह मूर्ति में सङ्कर्षण शब्द से वाच्य और पहले पहल श्रीरघुनाथजी के आविष्कार करने से रुद्र लिङ्गस्वरूप श्रीरामेश्वर शब्द से उपास्य तथा ध्येय हैं।३

वही भगवान् व्यष्टि एवं समष्टि जीवों के अधिष्ठान परमात्मा चतुर्व्यूह मूर्ति में अनिरुद्ध तथा तीर्थविभाग में निजनिर्मित समुद्रमध्य वर्त्ती पुरी के द्वार का विदारण कर उसमें प्रविष्ट होकर रहने से द्वारकाधीश शब्द से उपास्य एवं अभिगम्य होते हैं। ४।

यही चतुर्व्यूह मूर्ति चारों धामों में तीर्थों में चार प्रकार से विद्या और अविद्या के रूप में उपासना के लिए विराजमान है।

श्रीद्वारिका में तो ये दोनों ही चतुर्व्यूह विभाग तथा तीर्थ विभाग भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। यहाँ पर दो द्वारकायें हैं। एक बाह्य द्वारका और दूसरी आभ्यन्तर द्वारका। जिनमें बाह्य द्वारका को श्राद्ध द्वारका

और आभ्यन्तर द्वारका को दर्शनद्वारका कहते हैं।

अवान्तर विभाग के तीर्थों में भी इसी प्रकार सर्व ब्रह्माण्ड के देवताओं का तत्तत्तीर्थों में आविष्कार किया है। जिसे महर्षियों ने महात्माओंने पुराणों में तीर्थों के माहात्म्य प्रकरण में सब स्पष्ट कर दिया है। उनको विस्तार के भय से यहाँ नहीं लिखा है।

श्रीसम्प्रदाय के वैष्णव जो यह कहते हैं कि चारों धामों में श्रीरङ्गजी ही विराजमान है। यह उनका कथन केवल अपने सम्प्रदाय का सर्वोत्तमत्वप्रतिपादन करना है जो कि उचित भी है किन्तु वैष्णव पुराणों में भी संकर्षण को शिव मूर्ति ही कहा गया है अतः वह कथन मात्र है। श्रीरङ्गजी का स्थान तो हम श्रीवैष्णवों का उपसना करने का एक गुह्यस्थल विशेष हैं। जो श्रीवैष्णवराजा के द्वारा स्थापित किया गया है। यह ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है।

इन सब तीर्थों में प्रत्येक सनातन धर्मी को यथासाध्य यात्रा करनी चाहिए। हमारे पूर्वज महर्षियों ने मानस तीर्थ कर्मयोग की रक्षा के लिए स्थावर तीर्थ ब्रद्रिकाश्रमादि नियत किये हैं। इस तरह श्रीपिताजी ने इनकी मौलिकता का संक्षेप से सर्व साधारण के हित के लिए वर्णन कर दिया है।

उपोद्‌घात समाप्त हुआ।

उपदेशामृत

श्रद्धालु एवं धार्मिक तथा परम भगवद्भक्त श्रीशम्भुदत्तजी ब्रह्मचारी एवं नरवराश्रम संस्था के प्रवर्त्तक पूज्यचरण श्रीजीवनदत्त जी ब्रह्मचारीजी महाराज के धर्म के विषय में पूछने पर महामहोपाद परमवैष्णव पं० रामजी लालजी शास्त्री महाराज ने जो उपदेशामृत पिलाया उसको यहाँ जनता की कल्याण परम्परा की रक्षार्थ लिखा है।

महाराजश्री ने कहाकि मैं कुछ नहीं करता हूं कर्त्ता धर्त्ता वही सर्वशक्तिमान् परमात्मा है ऐसा दृढ़ निश्चय करके अपने कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के अभिमान को सर्वथा त्याग दे। और दिन या रात के किसी समय में अपने अवकाश के अनुसार कुछ देर तक एकान्त में आसन पर बैठकर यह चिन्तन करे कि जगत् के सब पदार्थ आशु-विनाशी हैं। अत एव अनित्य हैं, ऐसी धारणा करके मन को एकाग्र कर परमात्मा सर्वज्ञ तथा सर्वत्र विद्यमान हैं तो मेरी प्रार्थना को भी अवश्य सुनते हैं, ऐसी भावना कर परमात्मा के सम्मुख अपनी दीनता प्रकट करे कि हे ! दीनबन्धो ! मैं दीन हूं और आपही मेरे शरण हैं। हे भगवन् ! आपने अजामिल जैसे पापी गणिका जैसी वेश्या दुराचारियों का भी उद्धार किया है। इस लिए इस दुःखमय संसारसागर से मुझ पापी का भी उद्धार करिये। इत्यादि सुनकर फिर उन्होने पूछा कि —

प्रश्न — " भक्ति और ज्ञान का क्या है ? "

इसका संक्षेप में उत्तर देते हुए महाराजश्री ने कहा कि भक्ति और ज्ञान का संक्षिप्त लक्षण यह है कि तीव्र वेग वाली अव्यभिचारिणी प्रीति जिसमें ध्येय परमात्मा में मनका प्रत्ययान्तर रहित प्रत्यय प्रवाह हो जाता है वह परा भक्ति कहलाती है और शुद्ध स्वान्त होकर परिपूर्ण ब्रह्म में स्थित होना ज्ञान है अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा के तत्त्व का निर्णय करने से भेद वृत्ति नष्ट हो जाती है अतः शुद्ध आत्माकार होना ही ज्ञान की पराकाष्ठा है।

इन दोनों में यही भेद है कि एक में भेद सत्ता मालूम पड़ती है और

दूसरे में नहीं। इनमें पहिले के अधिकारी वानप्रस्थ है और दूसरी के संन्यासी। इनके साधन भी अलग अलग ही हैं।

भक्ति के साधन दो हैं। (१) अन्तरंग (२) बहिरंग। जिनमें बहिरंग साधन कर्ममिश्र उपासना है अर्थात् अपने वर्णाश्रमानुरूप श्रौत-स्मार्त्त कर्मों का यथार्थ सविधि अनुष्ठान करना। यही कर्म मिश्र उपासना कहलाती है।

और अन्तरंग साधन तो केवल विद्या का अनुष्ठान करना है। अर्थात् तत्तत्कर्माङ्ग देवता और द्रव्य में परमात्मा के अवयवों की भावना करना और भगवत्-धर्म नाम से कहे गये योग के अङ्गों का अनुष्ठान करना है। इसमें प्रमाण—

(योऽश्वमेधेन यजते यश्चैनमेवं वेद सोऽपि तरति ब्रह्महत्यां तरति शोकम्) इत्यादि श्रुति तथा स्थूल एवं सूक्ष्म रूपों के ध्यान के प्रतिपादक श्रीमद्भागवत और श्रीमद्भगवद्गीता आदि अधिदैव प्रतिपादक स्मृति ग्रन्थ हैं। इसी का अवान्तर भेद हमारे पूर्वजो ने स्थूल ब्रह्माण्ड रूप परमात्मा के साकार विग्रह को स्थूल रूप को संक्षिप्त रूप में चिन्तन करने के लिए मूर्त्ति पूजा चलाई है। इसमें भी यथाभिमत ध्यानादि के द्वारा योगसूत्र की सहायता से समाधि सिद्धि के बहिरंग कारण अनेक देव देवियों के मूर्तिभेद कल्पित कर लिये हैं। अन्तरंग कारण में भी सूक्ष्म से भी सूक्ष्म रूपों में आकार की कल्पना कर सवितर्कादि निर्विचारान्त अनेक प्रकार की सम्प्रज्ञात समाधियां मुख्य ध्येय के साधनार्थ मानी गई हैं। ये सब कर्म मिश्र उपासना की गणना में ही हैं। इसमें अनेक प्रकार की समाधियों का निर्देशन करनेवाले (एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे। कर्मजान् विद्धि तान् सर्वान) इत्यादि भगवद्वाक्य ही प्रमाण हैं।

उपासना का शुद्ध स्वरूप तो उपर्युक्त तीव्र वेगवती अव्यभिचारिणी प्रीति द्वारा ध्यानैक गोचर परमात्मा में प्रत्यैकतानता ही है। जो ज्ञान-

मिश्र उपासना है। इसका वेद एवं भागवतादिकों में वर्णन इस तरह हैं कि ध्येय ब्रह्म की विभूतियों का ध्यान जिस तरह कर्माङ्ग देवता द्रव्यों में भगवदङ्गो का चिन्तन करना कहा है ऐसे ही भगवान के स्थूल सूक्ष्म अर्थात् मूर्तामूर्त्त किंवा कार्यं कारण संघात में प्रत्येक व्यष्टि समष्टि स्वरूपों में ज्ञेय ब्रह्म के अनन्त स्वरूप का दर्शन करना है अर्थात् प्रत्येक अवयवों में परमात्मा के निखिल स्वरूप की दृष्टि करना है जैसे हवि ब्रह्म है यह होता ब्रह्म है अग्नि ब्रह्म है यह हुत ब्रह्म है इसी प्रकार ब्रह्माण्ड के सब अवयर्वो में ब्रह्म दृष्टि करना वह सब ज्ञानमिश्र उपासना के फलस्वरूप ज्ञान का वहिरंग साधन है। अन्तरङ्ग साधन यह है कि मैं प्रत्यक् चैतन्य शुद्ध बुद्ध ब्रह्म हूं और मैं ही सर्वत्र व्याप्त हूं। ऐसा जानना अथवा निखिल दृश्य को असद्बुद्धि से तिरस्कृत कर दृढ वैराग्य द्वारा निर्धर्म शुद्ध ब्रह्म का निश्चय करना है। इन्ही दोनो वृत्तियों का निरोध कर "नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव अखण्डैक रस विज्ञानानन्द-घन स्वरूप में स्थित होना ज्ञान का फल है। इसी का नाम "मोक्ष" है इसमें निखिल वेदों का रहस्य वाक्य उपनिषत् प्रमाण हैं। कुछ सम्प्रदायवादी लोग प्रायः इस वैदिक सिद्धान्त की अवहेलना अपने बुद्धि वैभव के द्वारा करते हैं। पर विशिष्टाद्वैत का असली लक्षण तो यह है कि चिदचिन्मिश्र सूक्ष्म कारण स्वरूप विष्णु से चिदचिन्मिश्र स्थूल कारण स्वरूप विष्णु के आकार विग्रह सत्य संकल्प भगवान् की इच्छा से ही जगत् प्रादुर्भूत होता है और वह अपने कार्यकाल में जैसा सत्य हैं वैसा ही व्याप्य तत्त्वों के व्यापक तत्त्वों में लीन है। अर्थात् कारणावस्था में छिपा हुआ सदा सत्य ही रहता है। (मृत्युनैवेदमावृतमासीत् मृत्युरेवेदमग्र आसीत्) इस वृहदारण्यक श्रुति की व्याख्या में "शंकर" स्वामी ने भी युक्ति प्रमाण द्वारा जगत् के निखिल कार्यो की नित्य सत्य सिद्ध किया है। यही चिदचिद्विशिष्ट परमात्मा का स्वपरूप कारणावस्था में विशिष्ट में परिबर्त्तन होता हुआ भी अद्वैत प्रतीत होता है, इसलिए उसे विशिष्टाऽद्वैत कहते हैं। इसी तरह शुद्धाद्वैतवादी ब्रह्म का आविर्भाव तिरोभाव शक्ति वाला स्वरूप

मानकर यह कहते हैं कि सदा शुद्ध ब्रह्म ही अविर्भाव तिरोभाव शक्ति द्वारा आविर्भूत तिरोभूत होता रहता है। इसमें मायाका लव भी नहीं है। इस तरह माया का तिरस्कार करते हैं। यह सब वैचित्र्य पारमेश्वरी शक्ति में ही सम्भव है। उस परमात्मा को भी प्रतिक्षण आविष्कार ही अत्यन्त प्रिय लगते हैं। इस विषय में परम आप्त सर्वरक्षासिन्धु "श्री कृष्णचन्द्र" भी ऐसा कह गये हैं कि—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परम्भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

इसका यह भाव है कि बुद्धिहीन मनुष्य मुझ अव्यक्त को अर्थात् सर्व जगत् के कारण स्वरूप में स्थित को ही मेरे अनुत्तम अर्थात जिसमें प्रकृति संसर्ग नहीं है ऐसे अविनाशी और प्रकृति से परले स्वरूप को नहीं जानते हुए व्यक्ति को प्राप्त हुआ कार्यरूप में परिणत हुआ मानते हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

योग माया से आवृत (अर्थात् जगत् में मेरी माया ही काम करती है मैं तो निर्मम और निधर्म हूं।) अतः मैं सबके सम्मुख प्रकाशित नहीं होता हूं उस मेरे प्रकृतिभिन्न स्वरूप को योगिभिन्न अन्य नहीं देख सकते है। यह मूर्ख जनता मुझ अजन्मा और अव्यय अविनाशी को नहीं जानती है। जो ऐसा कहती है। अर्थात् उस अजन्मा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव अखण्डैक रस विज्ञानानन्द धन और अव्यय ध्रुव मेरे स्वरूप को जिसका द्वैधी भाव नहीं होता है ऐसे अद्वैत ब्रह्म को यह मूढ याने नास्तिक जनता (नाभिजानाति) भावगम्य नहीं कर सकती है। ये गीता स्मृतिजी वैदिक सिद्धांत के रहस्य को छिपाने वालीं कल्पनाओं का स्पष्ट तिरस्कार करती हैं। इत्यादि।

प्रश्न— ब्रह्मचारी जी ने महाराजाश्री से पूछा कि महाराज! ज्ञान के विषय में जो उपनिषदों में ऐसी आख्यायिकायें हैं कि ब्राह्मण क्षत्रिय से प्रार्थना-पूर्वक शिष्य भाव से पूछता

है और क्षत्रिय कहता है कि यह विद्या आज तक क्षत्रियों में हो रही है ब्राह्मण इसको नहीं जानते पर तुम शिष्य होकर आये हो इसलिए बतलानी पड़ेगी उसने उस विद्या का उपदेश दिया। इत्यादि बातें किस भाव से किसके आधार पर लिखी गई हैं। क्योंकि ब्राह्मणों के यहां तो सदा ही ज्ञान का भण्डार रहा है फिर यह क्या बात है।

उत्तर-इसपर पूज्य महाराजश्री ने कहा कि-यों तो बहुत से बुद्धिमान् अपने अपने बुद्धि वैभव से अनेक प्रकार के उत्तर देते हैं। जैसे ब्राह्मण सदा से ही धन में दोष दृष्टि कर उसकी अवहेलना करते आये हैं। पञ्चाग्नि साध्य कर्मानुष्ठान प्रभूत धन साध्य है इससे ब्राह्मणों ने पञ्चाग्नि विद्या पर अपना अधिकार कभी किया ही नहीं और न उसके जानने की ही कभी इच्छा की इससे इस पर सदा क्षत्रियों का ही अधिकार रहा। इसी बात को यह आख्यायिका कहती है।

पर इसका वास्तविक रहस्य तो यह है कि ब्राह्मणों में त्रेताग्नि की उपासना ही सदा से प्रचलित हैं क्योंकि उसका ब्राह्मणेतर को अधिकार ही नहीं है और इसी का ज्ञान तत्त्वज्ञान है। निवृत्ति मार्ग का लक्ष्य भी यही है। पञ्चाग्नि का लक्ष्य ब्राह्मणों का नहीं होता-क्योंकि पञ्चाग्नि ध्येय ब्रह्म का अवयव है और ध्येयाधिकार क्षत्रियों को ही है। क्षत्रियेतर को नहीं। ब्राह्मण ज्ञेय ब्रह्म के उपासक होते हैं। (ये सब उपासनायें सत्व रज तम के आधार पर हैं) जब सर्वत्र अहम्भाव की राज्य सत्ता की नींव पक्की जम गई तब ब्राह्मण भी नीचे की ओर झुकने लगे और ज्ञेय को छोड़ कर ध्येय की इच्छा करने लगे और फिर पञ्चाग्नि की खोज में लगे तब उन्होने क्षत्रियों से यह विद्या प्राप्त की। क्षत्रियों ने भी अपने अहंभाव के साथ ही इसे ब्राह्मणो को समर्पण की।

यह आख्यायिका बृहदारण्य मे दो जगह और दो ही तरह आई है।

एक तो राजा अजातशत्रु को ब्रह्मज्ञान के अहम्मानी एक ब्राह्मण ने कहा कि मैं ध्येय ब्रह्म का अच्छी तरह निरूपण कर सकता हूं इस पर राजा ने कहा अच्छा कहिये। तब ब्राह्मण ने सुनाया तो बिलकुल अधूरा। यह सुनकर राजा ने कहा यह तुम्हारा ध्येय ब्रह्मका ज्ञान तो अत्यन्त अल्प विषयक हैं और तुम घमंड इतना करते हो। इस पर ब्राह्मण ने कहा अच्छा आप ही सुनाइये तब अजातशत्रु ने कहा कि यह विद्या आजतक ब्राह्मणों के पास नहीं गई। क्षत्रिय ही जानते हैं पर तुमको तो कहूंगा ही यह कहकर ध्येयब्रह्म के ज्ञान का उपदेश दिया।

और दूसरा प्रवहण राजा के ब्रह्मसूत्र में आये हुये विद्वान् ब्राह्मण कुमार से प्रवहण ने पूछा कि ब्राह्मण कुमार ! तुमने अपने पिता से सम्पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर ली। इस पर मुनि बालक ने कहा हां महाराज ! तब राजा ने ध्येय ब्रह्म के विषय में पांच प्रश्न किये। पर मुनि बालक ने किसी एक का भी उत्तर नहीं दिया, तब राजा ने कहा तुम तो कहते थे कि मैंने सम्पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर ली है। यह सुनकर वह लज्जित हो दौड़कर अपने पिता के पास गया और कहने लगा कि आपने तो कहा था तुम सब शिक्षा पूरी कर चुके। राजा ने आज मुझसे पांच प्रश्न किये। मैं एक का भी उत्तर नहीं दे सका। इस पर पिता ने कहा वत्स ! वे कौन से प्रश्न है ? पुत्र ने कहा सुनिये :—

राजा ने पूछा कि क्या तुम जानते हो ? (१) मनुष्य मर कर पहिले एक रास्ते से जाते हैं फिर कोई किसी से और कोई किसी से इस तरह अलग अलग जाते हैं।

(२) क्या ? तुम्हे यह मालूम है कि ये प्रजायें मरने के बाद यहां से जाकर फिर यहां ही लौट आती हैं।

(३) क्या ? तुम यह जानते हो कि नित्य प्राणियों के मरते रहने पर भी यह लोक रिक्त क्यों नहीं होता।

(४) वह कौन सी संख्या है जिसकी आहुति दे देने पर जल पुरुषाकर बन अच्छी तरह खड़े हो पुरुष वाणी से बोलते हैं।

(५) क्या देवलोक एवं पितृलोक की प्रतिपत्ति के साधन को जानते हो।

यह सब सुनकर पिता ने कहा इन्हें तो मैं भी नहीं जानता, चलो, उसी से पूछेंगे। पुत्र ने कहा आप ही जाइये। तब ब्राह्मण स्वयं अकेला गया। इसकी राजा ने अर्घ्य-पाद्य से बहुत सेवा की, कुशल पूछी और तब फिर ब्राह्मण ने कहा—महाराज आपने बड़ी दया की।

ब्राह्मण बोला — महाराज आपने जो कुमार से पांच प्रश्न किये मुझे उनका तत्व समझाइये मैं आपका शिष्य होता हूं।

राजा ने कहा— अच्छा आज तक कभी ऐसा हुआ तो नहीं है अस्तु। मैं आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। यह कह कर उसने उस विद्या का उपदेश दिया। इन आख्यायिकाओं का भाव यह है।

इसके बाद एक दिन महाराजश्री को काशीराजने आपने रामनगर किले मे बुलाया, आतिथ्य सत्कार करने के अनन्तर काशीराज ने पूछा कि—पण्डितजी महाराज, उपासना क्या चीज है इसका क्या तत्व है। उपास्य और उपासक कैसे होने चाहिये।

उत्तर महाराजश्री ने कहा—उपास्य एवं उपासक का यह तत्त्व है कि जब अनादि प्रवाह के अनुशार प्राणियों के कर्म प्रवोध का समय उपस्थित होता है तब निरीह निर्धर्म शुद्ध परमात्मा को भी सिसृक्षा उत्पन्न होती है। फिर सुख, दुखः, मोहात्मक, अर्थात् प्रकाश प्रदृत्ति स्थिति गुण वाली त्रिगुणात्मक प्रवृत्ति के स्वभावानुसार कार्य तथा कारण रूप से तरह २ के तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। यद्यपि वेदों की नाना प्रकार की शाखाओं में अनेक प्रकार से उत्पत्ति का क्रम लिखा है परन्तु प्राणियों केकर्म विपाकानुसार ही परमात्मा अपने सत्य संकल्प द्वारा जगत् की रचना करता है। यही सबका मुख्य सार कथन है। वेदों में

उपासना का प्रकार दो तरह का है। इसलिए सृष्टि का क्रम भी दो ही प्रकार का विशेष रूप से देखा जाता है। एक प्रकृति द्वारा। दूसरा निज स्वरूप द्वारा। इनका यह मतलब है कि—प्रकृति अपने २४ अवयवों के द्वारा परमात्मा की संनिधि मात्र से निखिल ब्रह्माण्डों की रचना स्वतन्त्र ही करती है। इसलिए उपासक लोग अपने योगादि द्वारा उसकी प्रसव शक्ति को नष्ट करते हैं। यही मोक्ष का उपाय उनके मत में है। उपनिषदों में इसी का उपाख्यान "यह विद्या क्षत्रियों की ही है आज तक औरों में नहीं गई" इत्यादि पाया जाता है। और इसी का भगवान् श्रीकृष्ण ने भी (स कालेनेह महत्ता योगो नष्टः परन्तपः) इत्यादि वाक्यों से श्रीगीता जी में आपादन किया है। श्रीभगवान् ने राजविद्या भी इसी को बतलाया है।

दूसरा प्रकार यह है कि जैसे पहिले जो अपना स्वरूप है वह मौजूद है और उसी में से एक स्वरूप और बना लिया और उसमें वह तो वर्तमान रहा ही और उसमें से भी एक और नया बन गया। इसी तरह भगवान् परमात्मा अच्युत और अविनाशी हैं और उसी भाव से समस्त संसार की रचना करते हैं। सिसृक्षा के समय अचिन्त्यानन्त शक्ति परमात्मा अपने अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप को भी विज्ञानानन्द घन बनाते हैं। जैसे आदि में भगवान् अपने खास स्वरूप को अप्रच्युत बनाये रखकर ही हिरण्यगर्भात्मक जीवरूप में आविर्भूत हुये और फिर भी वह हिरण्यगर्भस्वरूप ज्यों का त्यों बना रहा और उसी में से अलग२ पति, पत्नी दोनों स्वरूप में प्रादुर्भूत हुए। बस इसी तरह अत्यन्त सूक्ष्म शरीर वाले पिपीलिका (चींटी) नामक जन्तुओं के शरीरों में भी अपने अप्रच्युत स्वरूप से वही ईश्वरीय स्वरूप जैसे का तैसा परिसमाप्त होता है।—प्रत्येक गो व्यक्ति में परिसमाप्त गोत्व की तरह देव तिर्यगादि स्वर्ग नरक की लीलाओं का अनुभव करता हुआ सदा अपने स्वरूप मे ही विराजमान रहता है। और कार्य कारण रूप साधन में जो

अभिनिवेश है यही इसका संसारित्व है। इसका वास्तविक स्वरूप तो सदा निर्धर्म निर्लेप असंसारी है। और यही सदा सबका ध्येय एवं ज्ञेय है। और जब यह जीव अपने पारमार्थिक स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है तभी सब लीलाओं को समाप्त कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है इसी का नाम "मोक्ष" है। बस फिर यहां ही याग, श्राद्ध दानादि कर्म और श्रुति स्मृत्यादि सब शास्त्र समाप्त हो जाते हैं। (अस्यैव कृतकृत्यत्वात् शास्त्रमस्मान्निवर्तते) इत्यादि वाक्य इसे प्रमाणित करते हैं।

प्रश्न—इसके अनन्तर एक दिन पं० फणिभूषणजी तर्कवागीश ने पूछा कि महाराज दर्शनों का मतभेद किम्मूलक एवं किस आधार पर हैं?

उत्तर—यह इनका मतभेद वैदिक तत्त्व के अविचार मूलक है। इसका उदाहरण जैसे वेदों के जो दो मार्ग शास्त्रकारों ने बतलाये हैं उनमें एक प्रवृत्ति मार्ग और दूसरा निवृत्ति मार्ग है—किंवा यों समझिये कि एक कार्यं सामान्य लौकिक अर्थं बोधक है दूसरा नित्यार्थ प्रतिपादक है और दो तरह के वेद वाक्य हैं। एक विधेयार्थं बोधक विधिवाक्य और दूसरा सिद्ध वस्तु स्वरूप का बोधक उपनिषद् वाक्य। बस। इन वाक्यों के अर्थ को अच्छी तरह से समझने से ही सब मतों का निर्णय हो जाता है। पहिले तो ये दोनों वाक्य ही परस्पर में एक दूसरे के प्रामाण्य के विघातक होते हैं। जैसे विधिवाक्य का प्रामाण्य देहातिरिक्त नित्य अनेकात्माओं की सत्तापर निर्भर है तो इससे नित्य सिद्ध वस्तु स्वरूपैक्य प्रतिपादक उपनिषद् वाक्यार्थ उक्त प्रमाण का विघातक होता है।

और नित्य अनेक आत्माओं की सत्ता के बोधक वाक्य का अखण्डैक वस्तु स्वरूप प्रतिपादक वाक्य के साथ विरोध स्पष्ट ही है। बस यही वेदार्थ दर्शनों के मतभेद का मूल है। और इसी में सेश्वर और निरीश्वरवाद भी सम्मिलित हो जाता है। और ये दोनों ही वेदार्थ हैं तो किस वाक्य को कौनसा वाक्य का उपमर्दक मानना युक्तिम सङ्गत हो

सकता है। इनका तत्त्व निर्णय करने के लिए ही सब वेदों की नाना शाखा प्रशाखाओं में परस्पर भिन्न भिन्न उपासनाओं के प्रकार बोधन कर निर्णय के लिए ही प्रयत्न किया गया है। इससे वह विषय और भी जटिल हो गया है। इसी अवसर पर न्याय के सिद्धान्त जीवेश्वर भेद पर जो तर्कसंग्रह में जीव का लक्षण करते हुए "जीवात्मा प्रति शरीरम् भिन्नो विभुर्नित्यश्च" यह लिखा है इस पर महाराज ने उन पण्डित फणिभूषण जी को पूछा कि इस वाक्य में प्रतिशरीरं भिन्नः—विभुः—ये दो पद आपस में विरुद्ध होने पर भी एक लक्षण समाविष्ट कैसे हैं भिन्न धर्मा शब्दों की एकवाक्यता एवं एकार्थ प्रतिपादक शक्ति कैसे है। और कहा कि जब अपनी विभुता की सिद्धि के लिए प्रतिशरीरस्थ अणु मूर्त्त द्रव्य मन के साथ संयोग करने के लिए सब शरीरों में सभी आत्मा विद्यमान हैं तब "प्रतिशरीरं भिन्नः" यह कैसे सङ्गत हो सकता है। और यदि प्रत्येक शरीर में एक एक आत्मा भिन्न२ है तो वह विभु कैसे हो सकता है। विभु उसी को कहते हैं जो सर्व-मूर्त्तद्रव्य संयोगी एक हो जैसे "आकाश"। बस। इसी प्रकार मूल तत्त्व वेद के सम्यग्विचार के बिना दर्शनों के मतभेद निरूपण के कारण शास्त्रार्थ को अत्यन्त जटिल कर दिया है। उस वेदार्थ का सम्यग्विचार तो शास्त्र गुरु और ध्येय देवता परमात्मा के प्रसाद से लभ्य है। जब परमात्मा की कृपा का कुछ थोड़ा सा भी इशारा हो जावे तो मूल वेद के जो मुख्य सिद्धान्त कार्य वेदार्थ और नित्य वेदार्थ हैं इनमें कार्य और नित्य इन दो पदों के विचार से कार्य कार्य ही है तथा नित्य नित्य ही है यह ज्ञान हो जाता है और इसी से तत्त्वावधान भी हो जाता है। कार्य वेदार्थ की जितनी सामग्री हैं नित्य या अनित्य एक अथवा अनेक सब परिभाषित हैं सदा स्थायी तो नित्य वेदार्थ ही है ऐसा निर्णय हो जाने पर सब मतों के सिद्धान्त अपनी अपनी अवस्थाओं में सत्य हैं। किन्तु केवल अपनी अवस्थाओं में सत्य कहने से ही सदा सत्य नहीं हो सकते जाग्रत् मान से जाग्रत् पदार्थ प्रमेय हैं स्वप्न मानने

से नहीं। ऐसे ही स्वप्नमान से स्वाप्न पदार्थ प्रमेय हैं दूसरी अवस्था के मान से वे प्रमेय नहीं हो सकते, परन्तु समाधि अवस्था की प्रमा से जो प्रमेय हो गया वह किसी अवस्था के मान से भी असत्य नहीं हो सकता वह तो सदा ही सत्य है। इसी प्रकार नित्य वेदार्थ की प्रमा से जो प्रमित हो गया वह किसी भी मत से अप्रमेय (असत्य) नहीं हो सकता परस्पर प्रामाण्य विघात की जो शङ्का है वह भी अविचार मूलक ही है। क्योंकि (स्वविषयशूराणि हि प्रमाणानि) इस न्याय से विधि शास्त्र अपने विधेय की प्रमा का ही बोधन करेगा। और उपनिषदर्थ प्रमा का निवारण अथवा अप्रमा का बोधन नहीं करेगा उसमें यह सामर्थ्य ही नहीं है। इसी तरह उपनिषद् भी अपने विधेय की प्रमा का ही बोधन करता है विधिशास्त्र की प्रमा का निवारण किंवा उसकी अप्रमा का बोधन नहीं करता। इसमें यह आशङ्का हो सकती हैं कि इस तरह परस्पर का प्रमाण विघात तो नहीं हुआ अपने अपने विषय में सभी प्रमाण रहे आये किन्तु शास्त्र की द्विधा प्रवृत्ति समझकर प्रवृत्ति शैथिल्य अवश्य हो जायगा। इसका उत्तर यही है कि शास्त्र सभी अपने अपने बोध्य एवं वक्तव्य विषय का प्रकाश मात्र ही करते हैं जैसे सूर्य अग्न्यादि प्रकाशक पदार्थ जगत् के प्रकाश्य पदार्थों का प्रकाशमात्र ही करते हैं उन प्रकाश्यपदार्थों में अभिरुचि (प्रवृत्ति) होना तो अपनी इच्छा के अनुसार ही होती है। और शास्त्र राजा जैसे अपने नौकरों को काम में नियुक्त करता है इसी तरह अपने निर्देश्य की ओर बलात्कार से प्रवृत्ति नहीं करता। इति।

इस तरह विद्वान लोगों से शास्त्रचर्चा हो रही थी उसी समय सेठ गौरीशङ्करजी गोयनकाने महाराजश्री से पूछा कि, महाराजजी जाति क्या है यह जातिभेद कैसा। इसके उत्तर में महाराजश्री ने कहा कि जातितत्त्व एक बड़ा गहन विषय है।

जाति के विषय में जो अर्थनीति के स्मृतिकारों ने कर्मणा जाति पर जोर दिया है वह केवल व्यवहारिक अर्थात् लौकिक जाति की चर्चा

है। वास्तव में यह व्यावहारिक जाति काल्पनिक नहीं है किन्तु गुणों के परिणाम से औषधि वनस्पति मनुष्य पशु पक्षी आदि जातियाँ उत्पन्न होती हैं वैसे ही ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये भी चारों जातियें अपने अपने तत्वों के परिणाम से सिद्ध हैं। क्योंकि इन जातियों का व्यवहार वेद मन्त्रों में स्पष्ट दिखाया है। वेदों में उन्ही वस्तुओं का स्पष्ट व्यवहार होता है जो ईश्वर सृष्ट हैं। जीव कल्पित वस्तुओं का व्यवहार वेद में नहीं होता है। यह ही लौकिक एवं वैदिक इस तरह के भेद व्यवहार का मूल है। यदि ऐसा नहीं स्वीकार किया जाय कि वैदिक शब्दों से ही सब लोक के व्यवहार प्रचलित हुए हैं तो (लोकिकानां वैदिकानां) यह जो शास्त्रीय व्यवहार है उसका उत्थान नहीं होगा। वेदों में जाति के विषय में ऐसी चर्चा है कि सृष्टि रचना क्रम में चित्यात्मक अग्नि की उत्पत्ति के अनन्तर अग्निरूपापन्न ब्रह्म ने कर्माधिकारियों के अभाव से कर्म द्वारा सृष्टि रचने में असमर्थ होकर अपने प्रस्तुत रूप क्षत्रिय जाति के निमित्त क्षत्र तत्व को रचा वह क्षत्र तत्व आठ भेदों में विभक्त हुआ तब इन्द्र, वरुण, सोम, रूद्र पर्जन्य, यम, मृत्यु ईशान इन देवताओं से अधिष्ठित तत्व द्वारा क्षत्रिय जाति के मनुष्य रचे गये।

इसी प्रकार वैश्य जाति का मूल तत्व भी पाँच प्रकार के गणदेवताओं में विभक्त होता है—जैसे आठ वसु, ग्यारह रूद्र, बारह आदित्य, तेरह विश्वदेवा ४९ मारुत, इन पाँच प्रकार के गणदेवताओं से अधिष्ठित तत्व द्वारा वैश्य जाति उत्पन्न होती है।

इसी तरह शूद्र जाति का मूल तत्व पूषा नामक देवता से अधिष्ठित होकर शूद्र जाति को रचता है। इसी प्रकार ये सब सृष्टि के मूल तत्व जिस तरह अपने अपने समवेत कर्मों द्वारा औषधि वनस्पति चणक गोधूम, सिंह व्याघ्रादि जातियों को अलग अलग रचते हैं। ऐसे ही ब्राह्मणादि जातियों के तत्व भी अपने अपने देवताओं से अधिष्ठित स्वसमवेत तत्तत् जाति के कर्मों द्वारा सत्वादि गुणों का विभाग करके

अपनी जाति को पृथक् पृथक् रचते हैं। इसी से शास्त्रकारों की भी व्यवस्था भी सङ्गत हो सकती है।

शास्त्रकारों का मत है कि किसी भी जाति की दूसरी जाति में यदि संकीर्णता हो जावे और उस संकीर्ण जाति का कोई संकीर्ण (संकरता से पैदा हुआ) मनुष्य अपनी मूल जाति का उद्धार (याने उसमें मिलना चाहे तो नीचे की जातियों में उत्पन्न हुआ संकीर्ण मनुष्य पांच पीढियों से पहिले ही और ऊपर जाति में उत्पन्न हुआ संकीर्ण मनुष्य सात पीढियों में पहुंचे उससे पूर्व ही प्रायश्चित्तादि कर्म कर के वापिस लौट सकता है। अर्थात् कोई एक आदमी नीचे की जाति में अपनी पाँच पीढी रोटी बेटी द्वारा बिना दे तो वह उसी जाति का हो चुका ऐसे ही उच्चवर्ण में यदि कोई मनुष्य अपनी सात पीढी बिता देवे तो वह उच्च जाति में शामिल हो सकता है। यही भाव नीति एवं स्मृतिकारों का है। वे भी इसी भाव को मानकर कर्म द्वारा जाति की कल्पना करते हैं।

बीच में यदि आत्मग्लानि हो जाये और (निर्वेद) पश्चाताप कर के अपनी मूल जाति में जाना चाहे तो वह अवधि पर पहुंचने से प्रथम ही (पाँच और सात के भीतर ही) प्रायश्चित करके अपनी जाति में मिल सकता है। इसी के उदाहरण स्वरूप पुराणों में विश्वामित्रादिकों के उपाख्यान मिलते हैं। उन उपाख्यानों का मूल-तत्त्व मुख्य सिद्धान्त यही है।

इसके बाद एक दिन कतिपय प्रतिष्ठित सज्जनोंने जनताको उद्बोधन करने की महाराजी सेप्रार्थना की तब महाराजश्री ने जन-समारोहमें भाषण दिया

प्रिय धर्मप्राण आर्य सन्तानों! अपना क्या परम-कर्त्तव्य है एवं फिर क्या करने से अपनी पुरातन सत्ता और मुख्य स्वरूप बना रह सकता है। भाइयो यह तो हमें पहिले ही जानना हैं कि अगिन-त्रय भावापन्न सृष्टि के उत्पादक मूल तत्त्व ने जब ब्राह्मणादि जाति की उत्पत्ति की इच्छा की तब वेद के प्रकाशक ऋषियों को कलाओं से

आविष्ट हुआ वह मूल तत्त्व ब्राह्मणजाति के प्रवर्त्तक ब्रह्म भाव को प्राप्त होकर विचारने लगा कि मैं अकेला इस जाति कार्य में असमर्थ हूं। इससे अपने स्वरुप को तत्तत् जाति की उत्पत्ति के अनुगुण, बनाकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यह वर्णापर नामक चार जातियाँ उत्पन्न की। इससे (ब्रह्म भावापन्न तत्त्वाज्जातो ब्राह्मणः) यह ब्राह्मण शब्द की निरुक्ति हो गई और ब्रह्म वेदः तेन जीवति, आचरति वर्त्तेवा)।

यह भी ब्राह्मण शब्द की मुख्य निरुक्ति ही मानी है। वेद से चरण या जीवन करना वेदाध्ययन के अधीन है। वेदाध्ययन की प्रक्रिया में लिखा है कि जगत् में तीन तरह की भाषा दृष्टिगोचर होती हैं। उन भेदों के नाम हमारे ऋषियों ने ईश्वर आर्य म्लेच्छ इस तरह लिखे हैं। इनका तत्व यह है कि पहिली ईश्वर भाषा वेद है इश्वर के सदा एक रस रहने से वह वेद सब कल्पों में एकसा ही रहता है यह हमारे वैदिक लोगों का सिद्धांत है। दूसरी जीवभाषा वह भी नित्य चैतन्य स्वरूप है। संस्कार वश उत्कर्षापकर्ष करते रहने पर मूल स्वरूप सदा एक ही रहता है। इसी से जीवभाषा संस्कृत भी नाना तरह के विचित्र स्वरूपों में परिणत होती हुई मूल स्वरूप से च्युत नहीं होती जैसे व्यावहारिक संस्कृत और काव्य नाटक चम्पू भाण प्रहसनादिकों की संस्कृत और न्याय वेदान्त के परिष्कारों की संस्कृत में परस्पर में अत्यन्त भेद रहते हुए भी ये प्रकृति प्रत्यय विभाग रूप मूल मर्यादा से कभी प्रच्युत नहीं होती। तीसरी भूत भाषा है वह पृथव्यप्तेजोवारवा काशादि भूतों का परिणामाधीन है और भूतों का परिणाम प्रत्येक दिग्देश में भिन्न भिन्न है। इससे वह भाषा सदा ही प्रत्येक देश में भूतों का परिणाम भिन्न होने से भिन्न भिन्न पायी जाती है कितना ही यत्न करें एक हो ही नहीं सकती और यदि किसी तरह एक हो भी जावे तो जब कुछ प्रयत्न ढीला किया कि भाषा बदली।

जो भाषा जिसकी होती है उनसे परिचय करने से ही वह भाषा अच्छी तरह से अनायस (सुख से) ही प्राप्त होती है। और उस निज भाषा भाषी से परिचय न होवे तो वहां उस देश में रहते हुए भी उस देश की भाषा यथार्थ नहीं आती। तो फिर जब ब्राह्मणों का सर्वस्व वेद है और वह ईश्वर की भाषा है तो अवश्य ही ब्राह्मणों का यह मुख्य कर्त्तव्य है कि वह ईश्वर से परिचय करे और तब गुरु द्वारा वेद वेदांग का अध्ययन करे।

इसलिये गुरु का लक्षण (श्रोत्रियं ब्रह्म निष्टम्) यह लिखा है ईश्वर से परिचय करने के चिन्ह वेदाध्ययन पद्धति में मिलते हैं। जैसे त्रैवर्णिक ब्रमह्चारी को यज्ञोपवित देकर जब वेदारम्भ करते हैं उस समय ब्रह्मचारी को कृष्णाजिन धारण कराते हैं। और जब आजकल भी हमलोगों में असपृश्य स्पर्श का इतना विचार है कि उसे छूते ही स्नान किंवा हस्त प्रक्षालन करते हैं। तो उस पवित्र समय में इस चर्म जैसी अस्पृश्य वस्तु का इतना व्यवहार क्यों था इसका कारण यह है कि हमारे त्रैवर्णिकों के धर्मकृत्यों में दो वस्त्रों का विधान रहता है एक लज्जा निधारक दूसरा शीतातप वारक। तो उनमें से ब्रह्मचारी को तो ऐसा कृत्य सिखलाना है कि जिसमें शीतोष्णादि द्वन्द का उसे भय ही न रहे उसे तो केवल लज्जानिवारक एक कौपीन मात्र ही दिया जाता है और मृग चर्म सुखासन के लिये। ताकि उसे समाधिसिद्धि में पृथ्वी की ऊष्मा का भय न रहे। इस तरह समाधि के हो जाने पर समाधि में ईश्वर का साक्षात्काररमत है और तब जो वेद पढ़ा जाता है है वही यर्थार्थ वेद है। इसके द्वारा ही लोकोत्तर एवं असम्भव कार्य भी सिद्ध होते थे। पुराणागत इतिहासों में जो बिश्वामित्र के स्वागत में वशिष्ठ का और भरत के स्वागत में भरद्वाज का अलौकिक विचित्र चरित लिखा गया है तथा जनमेजय के उपाख्यान में उसके नाग-नाशक यज्ञ के वर्णन के समय तक्षक के रक्षक इन्द्र की आकृष्टि जैसे अन्यान्य

दृष्टान्त भी ऐसे ही वेद पाठ के प्रति फल है। यह तो हुआ ब्राह्मणों का चरित्र चित्रण।

अब उनका जीवन विषय चला—

वेदों में लिखा है कि देवताओं में कार्यसिद्धि अग्नि के द्वारा होती है। और मनुष्यों में कार्य सिद्धि ब्राह्मण के द्वारा होती है। इसलिए लोक रक्षा में क्षत्रिय और धनोपार्जन में लगे हुए वैश्य सद्गृहस्थों के धार्मिक कृत्य ब्राह्मण द्वारा ही होते हैं। इसलिए ब्राह्मणों को जो पुरोहित हैं उन्हें कम से कम इतना कर्मकाण्ड तो अवश्य ही ज्ञात होना चाहिए कि जिससे वे ऋत्विक् का कर्म तो भली भांति करा सकें।

इस विषय को दीर्घ दर्शी प्राचीन सद्गृहस्थों ने सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा ऐसा सुगम बना दिया है कि जिससे साधारण स्थिति वाले तथा हीनस्थिति वालों के सभी के वह धर्म कार्य एक रूप से बना चला जावै किसी भी हालत में नष्ट न हो। वह क्या है कि एक ब्राह्मण को कोई सद्गृहस्थों के घरों में नियुक्त कर दिया धर्मकृत्य कराने के लिए वही "घर का ब्राह्मण" इस पद से प्रख्यात है। इसकी बहुत आवश्यकता है क्योंकि गृहस्थियों के घरों में नित्य पञ्च महायज्ञ होना परमावश्यक है—और इसमें अगर देखा जाय तो ५ मिनट का समय और दो रोटी का ही व्यय होता है। और इसका फल पाँच तरह की नित्य १ पेषणी से २ कण्डनी से ३ चुल्ही से ४ उपकुम्भी से ५ मार्जनी से होनेवाली हिंसाओं के पाप से निवृत्त होना है। अतएव इनके करने के पीछे जो भोजन किया जाना है उसे अमृत प्राशन कहा है। ऐसे अन्न के भोक्ता ही शिष्ट सदाचारी एवं श्रेष्ठ कहलाने के पात्र होते हैं जो मनुष्य इनकी अवहेलना करके भोजन करता है उसे श्रीमद्भगवत्गीता में स्वयं श्री कृष्णचन्द्र ने अपने मुंह से स्तेन अघायू इन्द्रियाराम कहा है तथा उनके जीवन को भी व्यर्थ बतलाया है।

सचमुच यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो उन हमारे पूर्व पुरुषो की विचार परायणता दूर एवं सूक्ष्म दृष्टिता बहुत ही विचित्र है—जिन्होंने सबको गरीब व अमीर को अपने धर्म कार्य निर्वाहन के लिऐ एक तंत्र में बांध दिया। परन्तु अब उस प्रथा की बहुत ही दुर्दशा हो गई जो एक अच्छे आदमी के लिए अनिर्वाच्य है वे ब्राह्मण एवं यजमान तो हैं किन्तु वह धार्मिक कार्य नष्ट होकर और २ बहुत सी बुराइयां पैदा हो गई हैं इसमें दोनों की भूल है जो इसके तत्व को जानबूझकर भी अविद्या के गहरे अन्ध समुद्र में बैठ कर अन्धपरम्परा के प्रवाह में बहे फिरते हैं।

अभी भी खाली हन्तकार ही शेष है जो उन पुरोहितों ने अपने स्वार्थ से चला रक्खा है पञ्च महायज्ञ (बलिवैश्वदेव) का तो दोनों ने मिलकर बिल्कुल एकदम ही श्राद्ध (अन्त्येष्टि) कर दिया।

इसका जीर्णोद्धार करना आप लोगों का अवश्य परम कर्त्तव्य है और दूसरा वह है जो भिक्षा से अथवा स्वतः सिद्ध प्राप्त है। यह ब्राह्मणों के जीवन निर्वाह का विषय है।

आपने कहा कि वेदाधिकारी त्रैवर्णिकों में वेदों ने तीन तरह के कर्त्तव्य धर्मविधान किये है। (यज्ञोऽध्ययनं दानम्) अतः इन तीन शब्दों में वेदव्याख्याकारों ने कितना अर्थ विवक्षित माना है वह विचारणीय है जैसे यज्ञ शब्द में (यज धातु) है उसका अर्थ (देवपूजा संगतिकरण तथा दान) है इससे यज्ञ शब्द से देवपूजा का बोध होता है और पूजा भी (विशिष्टा पूजा यजनमितरत्) इस महर्षि शाण्डिल्य के सूत्र से दो तरह की पायी जाती है। एक तो विशिष्ट, देवता के पञ्चाङ्ग पद्धति द्वारा विशिष्ट सामग्रियों से ऊर्ध्यपाद्यादिकों में की जावै। दूसरी देवता के उद्देश्य से द्रव्य त्याग मात्र से करी जावै इन्हीं पूजाओं से धर्म ग्रन्थों में (इष्टापूर्त्त) नाम रक्खे हैं। इनमें भी शिवशक्ति विष्णु गणेशादि देवताओं के इष्टवेद के कारण पहिली के अनेक भेद पाये जाते हैं और

उनमें भी अन्तर्याग तथा बहिर्याग यह दो भेद और हो गये हैं। अन्तर्याग वह है जो अन्तःकरण के ऊपर अपने इष्ट देवता का अविर्भाव कर मनः कल्पित शुद्ध पदार्थ से आराधना करता है बहिर्याग बाहरी यन्त्र प्रतिमाओं में यथालब्ध द्रव्यों से उपचार करना है। दूसरी में भी श्रौत-स्मार्त्त दो प्रकार के संस्कारों से संस्कृत पदार्थों का यथाकल्प देवताओं के उद्देश्य से अग्नि में त्याग करना है। ये इतने भेद यज्ञ शब्द से लिए जाते हैं। यज्ञ धातु का दान भी अर्थ है। मृत पितरों के उद्देश्य से श्रद्धा से नियत रूप से जो द्रव्य त्याग किया जाता है उस अन्न दान का नाम श्राद्ध तथा पितृ याग है। यह भी इस धर्म स्कन्ध बोधक श्रुति शब्द से यज्ञ ही लिया है। कोई कहे कि ये श्रौतस्मार्त्त यज्ञ-दान रूप क्रिया हैं ये आशु विनाशी होने के कारण देखते देखते ही नष्ट हो जाती है फिर इनका कालान्तर में होनेवाले फल के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है। अर्थात् यह प्रत्यक्ष में फल न देकर देखते देखते जब हमारे सम्मुख नष्ट हो गई तो फिर कालान्तर में फल कैसे दे सकती हैं। इसका यही उत्तर है कि शास्त्रकारों ने दो तरह की प्रक्रिया फल के विषय में मानी हैं। एक तो सब जीवों के शुभाशुभ कर्मों से होनेवाले तीव्र रोष के द्वारा ईश्वर सब कर्मों का फल देता है। दूसरा यह है कि जीव ही अपनी क्रिया द्वारा जगदुत्पत्ति का कारण होता है। इस पक्ष में कर्म अपनी उत्पत्ति के समय कर्त्ता के अन्तःकरण के ऊपर अपूर्व नामवाले धर्म विशेष को उत्पन्न कर देता है, वह फलदानपर्यन्त स्थायी रहता है। और फलोत्तर भी वासनान्तर में परिणत हुआ चिरकाल पर्यन्त अन्यान्य कर्मों का कारण बनता हुआ स्थिर रहता है। वास्तव में यदि वेद का तत्त्व निश्चित किया जावे तो कर्म ही समस्त जगदुत्पत्तिका कारण सिद्धान्त ठहरा है। और उससे उत्पन्न होनेवाली वासनाओं के निर्मूल न करने के लिये ही वेदों ने ध्यान-योग उपासना इत्यादि सिद्धान्त स्थिर किये हैं। यह तो शास्त्रप्रमाण हुआ और यहां शास्त्र मूलक युक्तियां भी इसको प्रत्यक्ष करके दिखलाती हैं। जैसे

जिस अग्नि में इन कर्मों की उपासना की जाती है वह अग्नि इस लोक में तीन तरह से व्यवस्थित हैं मुख्य तो देवताग्नि जिसका श्रौत एवं स्मार्त्त संस्कार द्वारा कुण्डादि स्थल विशेष में आविर्भाव करा कर उसमें जो श्रौत स्मार्त्त पद्धति द्वारा अनुष्ठान किया जाता है वह चितित्रय के क्रम से सूर्य रश्मि द्वारा सोम में परिणत होकर वृष्टि द्वारा औषधियों में उत्पन्न होकर कर्त्ता को अपने भोग द्वारा देव लोक में वास कराता है और देव लोक के भोगों को भोगकर कर्मफल की समाप्ति होने पर वह शुभ कर्म कर्त्ता फिर फिर मनुष्यादि जन्म लेता है। दूसरा अध्यात्म अग्नि जो सम्पूर्ण प्राणियों के भीतर चितित्रय के क्रम से बैठा हुआ है। इस अग्नि में भी दो तरह से उपासना होती है। एक तो शास्त्रीय जो संकल्पादि द्वारा की जाती है जैसे ब्राह्मण भोजनादि भूत बलि विधान द्वारा। और दूसरी स्वाभाविक यह भी दोनों तरह के कर्म चितित्रय के क्रम से सूर्य रश्मि द्वारा वृष्टि मार्ग से औषधियों में आकर कर्ता के ज्ञान कर्म्मानुगुण उत्कृष्ट निकृष्ट फल देते हैं। तीसरा भौतिक अग्नि जो भूतों में विराजमान है उसमें भी हमारी उपासना का स्वाभाविक सम्बन्ध रहता है जैसे श्राद्ध को ही लीजिये भूस्थली पर दिये हुये किंवा जल में फेंके हुए पिण्ड भी कालान्तर में भौतिक पार्थिव किंवा जलीय अग्नि में सम्मिलित होकर उसी चितित्रय के क्रम से सूर्य रश्मि द्वारा वृष्टिमार्ग से औषधि में उत्पन्न होकर जिसके निमित्त वह कर्म हुआ है उस भोक्ता के भोग में अवश्य आयेंगे। चितिमय उसे कहते हैं जैसे पार्थिव अग्नि पहिला वायु में रहने वाला आन्तरिक्ष अग्नि दूसरा ? और द्यु नामक प्राण सत्त्व में रहने वाला सूर्य नामक अग्नि तीसरा ३ इन तीनों का एक वैदिक यन्त्र बना हुआ है इसीको चितित्रय कहते हैं। यही समष्टि देव मनुष्यादि यावत्प्राणियों का पोषण करने वाला महायन्त्र इस ब्राह्मण्ड में लगा हुआ है। जिस यन्त्र के प्रधान अंग सूर्य चन्द्रादि ज्योतियां प्रत्यक्ष दिखलाई देती हैं। इसी तरह का ही एक एक यन्त्र प्रत्येक प्राणी में लगा हुआ है जिसका प्रत्यक्ष निदर्शन बाहरी अन्न जल भीतर गया हुआ जठराग्नि के द्वारा विस्रवलित होकर विद्युत् रश्मि से ऊपर की ओर फेंका हुआ सूर्य

की रश्मियों में मिलकर सोम नाम के रस के परिणाम में परिणत हुआ सातों धातुओं की पुष्टि करता है। इतना ही नहीं सोम जो है वह इसमें से अधिक भाग को बाहरी बिजली द्वारा सूर्य की रश्मियों में शामिल कर के पर्जन्य वृष्टि द्वारा ब्रह्माण्ड के निखिल पदार्थों में सम्मिलित होता है जो इस कर्त्ता के पुनर्जन्म में फिर भी इसके भोग में सहायता करेगा बस यही चक्र अनादि अनन्त कालतक तब तक चलता रहेगा जब तक यह जीव भक्ति एवं ज्ञान के द्वारा परमात्मा की शरण कर इस चक्र से नहीं निकल जावेगा। यह यज्ञ शब्द का संक्षेपार्थ दिखलाया है। इसका विस्तार तो वेद शाखा-पुराण-तन्त्र तथा धर्मशास्त्र विद्यमान हैं।

दूसरा धर्मस्कन्ध अध्ययन इसमें "इङ् अध्ययने" "इकू स्मरणे" "इण् गतौ इतने धातु अन्तर्हित हैं। इस अध्ययन शब्द के वेद पाठ, मन्त्र जप और अध्यात्म शास्त्र का विचार, इतने अर्थ होते हैं। और स्मरणार्थक अध्ययन शब्द से आत्म साक्षात्कार भूत निरोध समाधि होती है। तीसरा स्कन्ध दान है यह दान शब्द डुदाञ्-दाने-दैप्-शोधने-दो-अवखण्डने देङ्-रक्षणे;। इन धातुओं से बनता है। इसका अर्थ है न्यायोर्पाजित धन का अपने सत्व को छोड़कर दूसरे के सत्व को उत्पन्न करना है।

यह दान वस्तु एवं रुचि के भेद से अनेक प्रकार का है। और शुद्धयर्थक दान शब्द से तीर्थ यात्रा कृच्छ चान्द्रायणादि स्नानादि नित्य कर्म तथा योगाङ्ग नेती वस्ती-आदि शुद्धि के हेतु कहे जाते हैं। खण्डनार्थक दान शब्द से मलापकर्षक हठ योगाङ्ग चक्रभेदनादि। और पालनार्थक दान शब्द से परिचर्यादि धर्मशाला, हित भाषण तथा अध्यापनादि इन धर्मों का संग्रह होता है। इन तीन स्कन्धों में ही वैदिक श्रुति एवं स्मृति में कहे हुए सब धर्मों का समावेश होता है। और ये सब धर्म ऊपर कहे हुए क्रम से सम्पूर्ण और यथार्थ फल देते हैं। इनका स्वयं आचरण कर दूसरों को उपदेश करना भी ब्राह्मण का कर्त्तव्य है। इसी का नाम ब्राह्मण्य पद प्राप्ति है।

श्रुति कहती है (अथ ब्राह्मणः केन स्यात येन स्यात् तेन स्यात् ब्रह्मविद् ब्राह्मण्यं पदमश्नुते) इसका यही भाव है कि वेदार्थ का यथार्थ साक्षात्-कार करने वाला ही ब्राह्मण ब्राह्मण्य पद का अधिकारी होता है। ब्राह्मण को इसका यत्न अवश्य करना चाहिए। मेरी द्विजाति मात्र से यही सविनय प्रार्थना है कि एक तो प्रत्येक द्विजाति को अपने घर में पञ्च महायज्ञ का पुनरुद्धार करना चाहिए और सन्ध्याशील होकर वेद माता गायत्री के साथ प्रेम करना चाहिए। इन दोनों में यदि आप लोग यथा-शक्ति प्रयत्न करेंगे तो द्विजाति मात्र का उद्धार हो सकेगा अन्यथा उद्धार उद्धार सारी उमर चिल्लाते रहेंगे तो भी कुछ होना जाना नहीं है। क्योंकि ब्राह्मण द्विजाति मे मुख्य है अतः ब्राह्मण जाति के उद्धार का उद्योग करो उसी मे अन्य सब जातियों का भी उद्धार निर्भर है। और जब सारे जगत् के स्तम्भ भूत एवं जातियों के मस्तिष्कस्थानीय ब्राह्मण जाति का उद्धार नहीं होगा तब सब नष्ट हो जायगा अतः इसका सुधार यदि नहीं होगा तो यह सम्भव नहीं है कि बिगड़े मस्तिष्क की अन्य इन्द्रियों की तरह ये अन्य जातियां कुछ कर सके जब तक समस्त संसार का एक प्रवाह नहीं होगा याने सकल जातियां अपने-अपने स्वरूप को नहीं पहचानेगी तब तक कोई परतंत्र देश का स्वतन्त्र होना तो दूर रहा उसका मार्ग ही स्पष्ट प्रतीत नहीं होगा कर्त्तव्यच्युत मनुष्य की तरह अपने मार्ग और स्वरूप से भ्रान्त यह राष्ट्र कुछ नहीं कर सकता हैं।" पहिले सामान्य व्यवस्था का निर्देश करके अपने मनुष्य के स्वरूपानुसारी आचरण पर ही जोर देकर कहा कि—सम्पत्सु सर्वदानानि विपत्सु हरिकीर्त्तनम्।

स्वोक्तनिर्वाह इत्येते मुख्या धर्मास्त्रयः स्मृताः।

सम्पत्ति में सर्वदान, आपत्ति में हरिकीर्त्तन और अपनी की हुई प्रतिज्ञा का पालन करना यही तीन मनुष्य के मुख्य धर्म हैं। अतः जो मनुष्य अपने अधिकार का पालन नहीं करता वह चाहे कुछ भी करे सब व्यर्थ है।

इस बात पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने जोर देकर कहा है कि स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः । अपने धर्म में रहकर मर जाना भी ठीक है किन्तु विधर्म बड़ा भयङ्कर है ।

अपने अधिकार के अनुकूल जो धर्म है वही स्वधर्म है और जो प्रतिकूल है वही परंधर्म हैं। ऊपर के वाक्य में यही बात कही गई है कि सम्पत्ति के समय सर्वदान अर्थात् इष्टापूर्त्तादि जो श्रौत स्मार्त्त धर्म है इनका पालन करना ही अधिकार के अनुरूप है। उस समय वानप्रस्थी किंवा सन्यासियों के धर्म में रुचि करना अधिकार के प्रतिकूल है और विपत्ति काल में हरिकीर्त्तन करना अधिकार के अनुरूप है, अपनी की हुई प्रतिज्ञा का पालन करना तो सभी अवस्थाओं में उचित है। ये मनुष्य के मुख्य कर्त्तव्य हैं ।

अब जो विद्वान् धर्मशास्त्रियों एवं दार्शनिकों की रुचिभेद से शास्त्र की सकीर्णता हो गई है उसका निर्देश करते हैं हमारे वेद एवं धर्मशास्त्रों की आज्ञा के अनुसार वर्ण एवं आश्रम सम्बद्ध जो मनुष्य हैं उनके प्रति ही हमारे वेद एवं धर्मशास्त्रों में उपदेश किये गये हैं। वर्णाश्रम शून्य मनुष्य के प्रति शास्त्र का एक भी वाक्य लागू नहीं हो सकता। इसका सार यह है कि शास्त्र का वचन जिस वर्ण वा आश्रम का उद्देश्य लेकर कर्त्तव्य का बोधन करता है उसी वर्णाश्रम वाले मनुष्य के करने से ही वह कर्त्तव्य पुण्यजनक हो सकता है। और यदि उसी को दूसरे वर्ण किंवा आश्रम वाला मनुष्य करे तो उससे उसको कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। लौकिक कर्म चाहे कोई भी करे उसे ही फल मिल जाता है। बस यही लौकिक तथा वैदिक में भेद है। इसलिए वर्णाश्रम प्रयुक्त धर्म में जो जिसका धर्म कहा गया है उसे वही कर सकता है। दूसरा उसे रात-दिन करते रहने पर भी उससे कृत कार्य नहीं हो सकता। इस पर यदि कोई कहे कि (कृषि गौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्य कर्म स्वभावजम्) यह वाक्य वैश्य के ही धर्म का बोधन करता है, पर यह

तीनों ही कार्य सभी जातियां करती हैं; और उन्हें लाभ भी बराबर होता ही है। और अध्यापनादि वृत्तियां ब्राह्मणों ही को है पर अब तो इतर जातियां भी करने लगी है और उन्हें फल भी बराबर मिल रहा है। आज हजारों इतर जाति के व्यक्ति पढाते हैं और साधु बन कर किंवा प्रत्यक्ष रूपेण प्रतिग्रह ले लेकर लखपति बन रहे हैं तथा तीर्थादि जगह व जगह मौज उड़ा रहे हैं। इसी तरह प्रजापालनादि क्षत्रिय कर्म को मुसलमान ईसाई अंगरेज आदि निकृष्ट तक कर रहे हैं। और ऐसा सुन्दर करते हैं कि इधर बीच में होने वाले क्षत्रियों को कभी अनुभव ही नहीं हुआ था। पर इसका तत्त्व यह है कि ये उपर्युक्त वाक्य तो जीविका के बोधक लौकिक है शुद्ध शास्त्रीय नहीं; "आजीविका के बोधक वाक्य लौकिक ही होते हैं। शुद्ध शास्त्रीय नहीं। शास्त्र के वचन दो भागों में हैं; एक कर्म बोधक उसे शुद्ध शास्त्रीय कहते हैं दूसरा आजीवनादि बोधक वह लौकिक कहाता है। यदि उसे नियम सहित पालन करें तो धर्म भी होता है।

धर्म शब्द से केवल वेद बोधित धर्म का ही ग्रहण किया जाता है, जो कि तत्त्व गोत्र प्रवर के संकेत से उन उन शाखाओं में भिन्न भिन्न प्रकार से बोधन किया है। उस एक शाखा के कर्म को दूसरी शाखा वाला नहीं कर सकता और यदि करे भी तो उससे उसे अपूर्व (धर्म) नहीं पैदा हो सकता। यह बात उन उन सब शाखाओं की पद्धतियों में स्पष्ट लिखी है। और ऐसे ही एक जाति के सम्बन्ध से कहे हुए कर्म दूसरी जाति वाला करे तो फल भागी नहीं हो सकता है। इस विषय में ज्वलन्त उदाहरण विश्वामित्र का इतिहास आज भी जागरुक है। उसके इतिहास में स्पष्ट लिखा है कि "तीसरी बार तीव्रतपश्चर्या करने पर जब विश्वामित्र ने ब्रह्मर्षि शब्द का लाभ किया तब विश्वामित्र ब्रह्माजी से कहते हैं कि हे ब्रह्मन्! यदि मैं ब्रह्मर्षि हो गया तो जो ब्राह्मण के द्विज के प्रणव सावित्री वषट्कारादि हैं वे मुझे भी वर लेवें यह

आज्ञा दीजिए। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि जो जिस वर्णाश्रम का कर्त्तव्य है उससे उसी को फलसिद्धि होती है अन्य को नहीं।

वेदों में ऐसी मर्यादा के स्पष्ट विद्यमान रहते हुए भी कलि महाराज की छाया पड़ते ही धनी मानो लोगों की रुचि के वश से हमारे विद्वत्समाज ने उस मार्यादा का उल्लंघन कर उनकी रुचि के अनुसार ही ग्रन्थ निर्माण करके धर्म को लुप्त कर दिया। अतएव उन व्यर्थ पद्धतियों द्वारा अनुष्ठान करने पर भी फल न होता देखकर आजकल के जडमतियों ने अपने मनमाने धर्मों का अविष्कार करके उस मुख्य वैदिक धर्म का बिल्कुल सत्यानाश ही कर दिया। इसीसे यह हमारा भारत गारत हो गया। अब जो अपनी अपनी रुचि के अनुसार कल्पित पद्धतियों द्वारा कुछ हो रहा है सो सब व्यर्थ ही हो रहा है—इसीसे उसका कुछ फल नहीं होता अतएव उधर से मनुष्यों की रुचि घटती जा रही है। और अभी न मालूम हमारे विद्वान् ब्राह्मण समाज की आँखें कब खुलेंगी। जिससे वे फिर उसी प्राचीन वैदिक मार्ग की ओर दृष्टि डाल कर उसका जीर्णोद्धार कर भारत वर्ष का मुख उज्जवल करेंगे। इतना कहकर श्री पुरुषोत्तम वासुदेव का स्मरण करके श्री महाराज गद्‌गद हो गये।

हरिः ॐ तत् सत् ! शांतिः !! शांतिः !! शांतिः।

सं०-- १९५९





महाराजश्री पूज्यपाद म० म० पं० रामजीलालजीशास्त्री

प्राचीन डीन फैकल्टी आफ दी ओरियन्टल लर्निंग बी.एच.यू. काशी
उ० प्र० संस्कृत अकाडमी लखनऊ के द्वारा १५ हजार रुपये के
विशिष्ट पुरस्कार से सम्मानित
आचार्यश्रीमधुसूदनशास्त्रीजी के कतिपय
टीकाग्रन्थ, और मौलिक कृतियां

१. काव्यमीमांसा संस्कृत हिन्दी मधूसूदनीवालक्रीडाओं सहित, चौखम्भा द्वारा प्रकाशित ।

२. व्यक्तिविवेक मधुसूदनीविवृत्तिसहित । चौखम्भा द्वारा प्रकाशित ।

३. सा लोचन रसगंगाधर संस्कृत, हिन्दी मधुसूदनीबालक्रीडाटीकाओं सहित । तीन भागों में हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित ।

४. साभिनवभारती नाट्यशास्त्र (संस्कृत हिन्दी) मधुसूदनीबालक्रीडाटीकाओं सहित । (चार भागों में हिन्दू विश्वविद्यालय के द्वारा प्रकाशित)

५. सानुशीलन काव्यप्रकाश (संस्कृत, हिन्दी) मधुसुदनीबालक्रीडाओं सहित । ठाकुर प्रसाद एण्ड सन्स वाराणसी द्वारा प्रकाशित ।

६. उत्तररामचरित (संस्कृत हिन्दी) मधुसूदनीबालक्रीडाटीकाओं सहित ।

७. सव्याख्यः अलंकारकौस्तुभः मधुसूदनीसहितः श्रीपण्डिते प्रकाशमानः ।

८. श्रीमद्भगवद्गीता (हिन्दी; संस्कृत) मधुसूदनीबालक्रीडाटीकाओं सहिता । अरुणोदय पब्लिकेशन काशी ।

९. श्रृङ्गारतिलक रसिकरञ्जिनीयुवकमोहिनीटीकाओं सहित ।

१०. वृत्तरत्नाकर सेतु नारायणी बालक्रीड़ा सहित चौखम्भा सं. स. आ. ।

११. श्रुतबोध सुबोधनी बालक्रीड़ा. सहित ,, ,, ,, ,,

१२. प्रतापरुद्रीय (संस्कृत हिन्दी) चौ. स. सी. आ. ।

प्राचीन डीन फैकल्टी आफ दी ओरियन्टल लर्निंग बी.एच.यू. काशी
उ०प्र० संस्कृत अकाडमी लखनऊ के द्वारा १५ हजार रुपये के

विशिष्ट पुरस्कार से सम्मानित
आचार्यश्रीमधुसूदनशास्त्रीजी के कतिपय
टीकाग्रन्थ, और मौलिक कृतियां

१. काव्यमीमांसा संस्कृता हिन्दी मधूसूदनीबालक्रीडाटीकाओं सहित. चौखम्भा द्वारा प्रकाशित ।
२. व्यक्तिविवेक मधुसूदनीविवृतिसहित । चौखम्भा द्वारा प्रकाशित ।
३. सालोचन रसगंगाधर संस्कृता, हिन्दी मधुसूदनीबालक्रीडाटीकाओं सहित । तीन भागों में हिन्दू विश्वविश्वद्यालय से प्रकाशित ।
४. साभिनवभारती नाट्यशास्त्र (संस्कृता हिन्दी) मधुसूदनीबालक्रीडाटीकाओं सहित । (चार भागों में हिन्दू विश्वविद्यालय के द्वारा प्रकाशित
५. सानुशीलन काव्यप्रकाश (संस्कृता हिन्दी) मधुसुदनीबालक्रीडाटीकाओं सहित ठाकुर प्रसाद एण्ड सन्स वाराणसी द्वारा प्रकाशित ।
६. उत्तररामचरित (संस्कृता हिन्दी) मधुसूदनीबालक्रीडाटीकाओं सहित ।
७. सव्याख्यः अलंकारकौस्तुभः मधुसूदनीसहितः श्रीपण्डिते प्रकाशमानः ।
८. श्रीमद् भगवद् गीता (हिन्दी; संस्कृता) मधुसूदनीबालक्रीडाटीकाओं सहित अरुणोदय पब्लिकेशन काशी ।
९. शृङ्गारतिलक रसिकरञ्जिनीयुवकमोहिनीटीकाओं सहित
१०. वृत्तरत्नाकर सेतु नारायणी बालक्रीडा सहित चौखम्भा सं. सी. आ. ।
११. श्रुतबोध सुबोधनी बालक्रीडा सहित ,, ,, ,, ,,
१२. प्रतापरुद्रीय (संस्कृता हिन्दी) चौ. स. सी. आ.
१३. जातकदीपिका ठाकुर प्रसाद एण्ड सन्स वाराणसी ।
१४. पण्डितराज जगन्नाथ ग्रन्थावली चौ. सं. सी. आ. ।
१५. काव्यकल्पलतावृति मधुसूदनी ,, ,, ,,

मौलिक कृतियां

१६. शास्त्रीयकरप्रणाली मौलिक संग्रह ग्रन्थ हिन्दीभाषा में दाता ठाकुर साहब जयपुर के द्वारा प्रकाशित

१७. साहित्यशास्त्रीयतत्वों का आधुनिकसमालोनात्मक अध्ययन चौखम्भा ।

१८. साहित्यमधुसूदनः अलङ्कारविषये साहित्यतत्वान्यधिश्रित्य मौलिकी रचना

१९. "पण्डितराजजगन्नाथ चिन्तन की एक तुला" अ प्रकाशित

२०. "चन्द्रलोक में अवतरण नहीं" प्रकाशित । अरुणोदय पब्लिकेशन काशी

२१. हिन्दूविश्वविद्यालयं महाकाव्यम् । मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित

२२. का.हि. वि. वि एकांकी नाटक (का० हि० वि० वि० स्वर्णजयन्ती पर अभिन

२३. वर्षयोगावली हिन्दीटीकासहित चौ सी. आ. द्वारा प्रकाशि

२४. जातिलता हिन्दी टीका सहित अ. प. का.

२५. संस्कृता एवं तदितर भाषाओं के शब्दों का समन्वयी कोष

२६. रामचरितमानस नाम नहीं मानसरामचरित अ. पब्लि. काशी ।

२७. रामचरितमानस के २७ श्लोक अरुणोदय पब्लिकेशन काश

शास्त्रीजी की ये उपर्युक्त रचनाएं पण्डितजनोचित भाव एवं भाषा समुपबृंहित एवं सुसम्पन्न है अतः उपयोगिता एवं उपादेयता की दृष्टि से विद्व के लिए आदरणीय एवं संग्राह्य हैं ।

पं० करुणापति त्रिपाठी
मू. पू. कुलपति सम्पूर्णानन्द संस्कृत
विश्वविद्यालय वाराणसी

आचार्य बदरीनाथ शुक्ल
पूर्व कुलपति सम्पूर्णानन्द संस्
विश्वविद्यालय वाराणसी

नव एवं पूर्व अध्यक्ष—उत्तर प्रदेश संस्कृत अकाडमी लखनऊ (यू० पी०

डा० डी० एन्० चतुर्वेदी

श्रीराजारामशास्त्री

नव एव पूर्व

कुलपति काशी विद्यापीठ वाराणसी

卐

